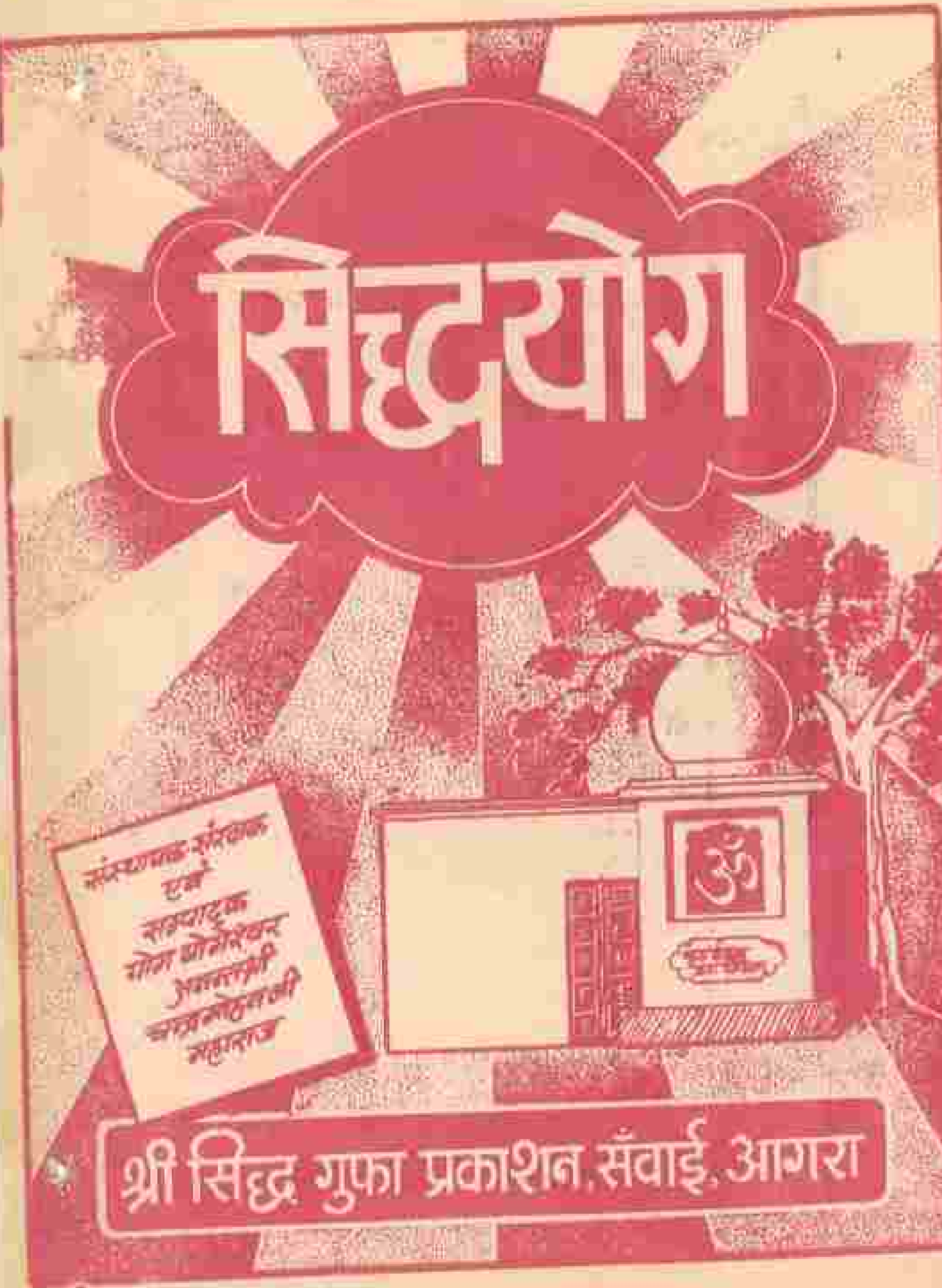

वर्ष १२] मार्च १९८९ ई० [अङ्क १

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई

- यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः (प्रार्थना) १
- नान्यः पन्था विद्यते । (विशेष लेख) २
  योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
- शाम्भवी मुद्रा रहस्य ६
  आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा एम० ए०
- श्री मद्भगवद गीता का मर्म १६
  श्री डा० यतीन्द्रनाथ शर्मा
- मन मतंग माने नहीं २६
  श्रीमती सरिता भारद्वाज एम० ए०
- हंस मन्त्र अथवा अजपा गायत्री ३०
  श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री
- तमसो मा ज्योतिर्गमय ४१
  प्र० श्री रामलाल शर्मा
- खोजत-खोजत सद्गुरु पाइए ४५
  श्री डा० रमेशचन्द्र मिश्र
- श्रीमद्भगवदगीता का मूल सन्देश ५१
  श्री डा० विजयसिंह
- गुरु और शिष्य ५५
  श्री देवेन्द्र परमार्थी
- अमृत और विष : आध्यात्मिक रहस्य ५६
  श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज
- यही है, यहीं है— ७३
  श्री केशव उपाध्याय
- योग-पथ पाथेय ८०
  योगी त्यागमूर्ति श्री सियाराम महाराज के उपदेश
- दीर्घ जीवन ८३
  श्री पं० रामस्वरूप शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य
- माया क्या ? ८८
  श्री विष्णुप्रसाद शरण
- सिद्धयोग का यह नवीन वर्ग ९६

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'
अप्रैल १९८६

वार्षिक मूल्य ३० रुपया । इस अङ्क का ५ रुपया

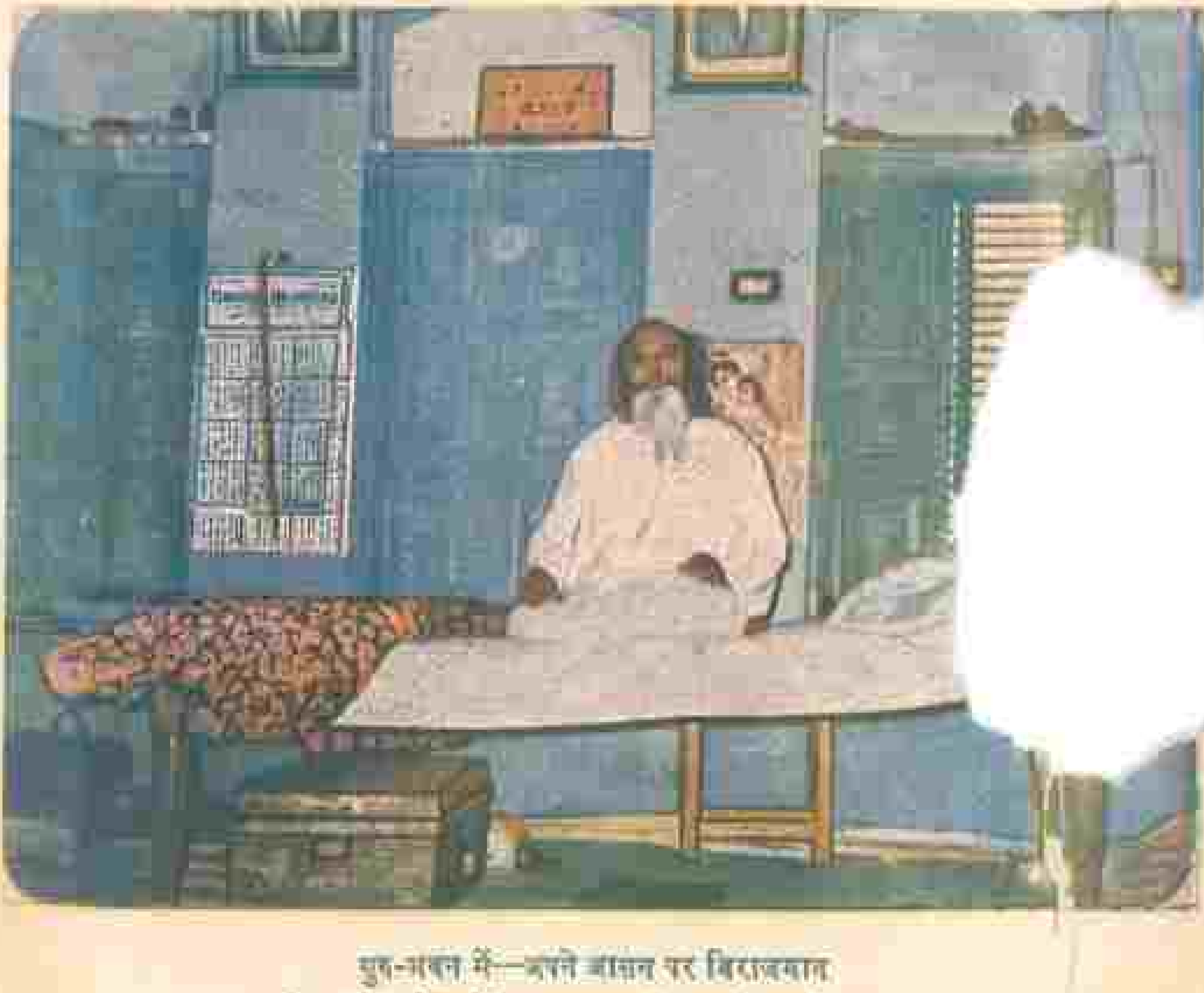

गुरु-भवन में—अपने आसन पर विराजमान
श्रद्धेय गुरुदेव योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष १२ अङ्क १	स्वार्थं स्वार्थं मपिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्ध्रुवं विरतो, मुक्तिं माप्नोति सद्यः। तस्मात्प्रार्थोन् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशात्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥	अप्रैल १९८६

❀ यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ❀

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।

एषः=यह; अन्तःशरीरे हि=शरीर के भीतर ही (हृदय में विराजमान) ज्योतिर्मयः=प्रकाशस्वरूप (और); शुभ्रः=परम विशुद्ध; आत्मा=परमात्मा; हि=निस्सन्देह; सत्येन=सत्य-भाषण से; तपसा=तपसे (और); ब्रह्मचर्येण=ब्रह्मचर्य पूर्वक; सम्यग्ज्ञानेन=यथार्थ ज्ञान से ही; नित्यम्=सदा; लभ्यः=प्राप्त होनेवाला है; यम्=जिसे; क्षीणदोषाः=सबप्रकार के दोषों से रहित हुए; यतयः=यत्नशील साधक ही; पश्यन्ति=देख पाते हैं।

अर्थात्—सब के शरीर के भीतर हृदय में विराजमान परम विशुद्ध प्रकाशमय ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा, जिन को सब प्रकार के दोषों से रहित हुए यत्नशील साधक ही जान सकते हैं, वे परमात्मा सदैव सत्य-भाषण, तपश्चर्या, संयम और स्वार्थत्याग तथा ब्रह्मचर्य के पालन से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं।

हमारा विशेष लेख—

❀ योग-योगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी
महाराज

श्रद्धेय श्री गुरुदेवजी ने अपने इस लेख में यौगिक जीवन और योग-मार्ग की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि केवल योग-मार्ग ही एकमात्र ऐसा मार्ग है जिसका विधिवत् अनुष्ठान ही साधक को अक्षय आनंद और शाश्वत शान्ति प्राप्त करा देता है। सं. स०

नान्यः पंथा विद्यते

श्वेताश्वतर उपनिषद् में ऋषि ने अपने अनुभूत ज्ञानके आधारपर जगतके अनन्तानुबन्ध जालमें उलझे पड़े लोगों को चेतावनी देते हुये बड़े ही स्पष्टता, और दृढ़ता के साथ कहा है कि सुनो दुनिया के लोगो! अविद्या अंधकार से बिल्कुल परे जो सूर्य से भी कहीं अधिक प्रकाशवान और तेज पुञ्जरूप महान से महान पुरुष है, उसे मैं जानता हूँ और यह मानता हूँ कि इस महान्तम आदित्य वर्ण-पुरुष को जानकर ही निःश्रेयस और अपवर्ग की प्राप्ति की जा सकती है। मृत्यु और मृत्यु जैसे भयङ्कर कष्टों से—भव के त्रय तापों से छूटकर परमपद प्राप्त करने का इसके सिवाय अन्य कोई पंथ है ही नहीं।

पढ़िए ऋषि के प्रबोधन को उनके अपने ही शब्दों में—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यते अयनाय॥
(श्वेताश्वतर ३-८)

उपनिषद् के ऋषि का यह महान्तम् आदित्य वर्ण तमसः परस्तात् पुरुष ही—योग दर्शन के सूत्रकार भगवान पतञ्जलि का पुरुष विशेष-ईश्वर है, जिसे उन्होंने समाधि पाद के सूत्र संख्या २४ में इस प्रकार भाषित किया है—

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वरः।

भगवान व्यासदेव ने अपनी व्याख्या में—'स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति' कहकर इसकी महत्ता प्रकट की है। समाधिपाद के २५ वें सूत्र में 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्' की बात कहकर भी इस महान्तम पुरुष की महानता प्रकट की गई है।

जैसाकि ऊपर कहा गया है यह स्वयंभु और सर्वव्यापी

पुरुष न केवल क्लेश, कर्म, विपाक और आशय आदि से अछूता है बल्कि वह अतिशय ऐश्वर्य अतिशय सर्वज्ञता और अतिशय शक्तिमत्ता का बीज अपने में संजोये हुये है। देश और काल की परिधि से भी वह अतिशय परे है अर्थात् वह ऐसा महान्तम पुरुष है जिसके समान अथवा जिससे अधिक या न्यून अथवा जिसके बराबर भी न कभी कोई हुआ है, न है और न आगे होगा। अर्थात् वह अनुपमेय और अनोखा है। अरूप होकर भी वह अतिशय रूपवान है, दृष्टि न रखते हुये भी वह त्रिलोकी का द्रष्टा है, वाणी न रखते हुये भी उत्तम कोटि का प्रवक्ता है। गोस्वामी तुलसीदास ने उसके इसी रूप का वर्णन अपने शब्दों में इस प्रकार किया है—

बिनु पग चलै सुनै बिनु काना।
कर बिनु करम करै बिधि नाना॥
बिनु बानी बकता बड़ जोगी।
आनन रहित सकल रस भोगी॥

गोस्वामी जी यह उद्गार भगवती श्रुति के इस निम्न मन्त्र की ही छाया अथवा इसकी मिलती जुलती सी अभिव्यक्ति है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
—श्वेताश्वतर ३-१९

ऐसा है वह महान्तम् पुरुष जिसे योग-दर्शन में पुरुष विशेष ईश्वर कहकर उसका परिचय दिया गया है। सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति का जहाँ निरूपण किया गया है वहाँ पुरुष से तात्पर्य काया में स्थित, जीव-पुरुष से है जो अनेक जन्मों के संस्कारों के कर्माशय को लिए हुए तदनुसार जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा करता है। पुरुष विशेष ईश्वरः इस जीव-पुरुष से अलग है। इसीलिए अपनी असीम विशेषताओं के कारण इसे पुरुष विशेष की संज्ञा से भाषित किया गया है। महर्षि व्यासदेव ने उपरोक्त सूत्र के अपने भाष्य में इतना संकेत और कर दिया है कि कहीं इस पुरुष विशेष की खोज करते-करते कोई कैवल्य प्राप्त केवली पुरुषों को पुरुष-विशेष न समझ बैठें, क्योंकि यह सब भी अपने कर्म बन्धनों को काटकर कैवल्य प्राप्त करते हैं। परन्तु कैवल्य प्राप्त ये पुरुष 'पुरुष विशेष' की कोटि में नहीं आते—क्योंकि ये केवली पुरुष भी कभी बन्ध कोटि में रहकर ही कैवल्य लाभ ले पाते हैं, जबकि पतञ्जलि का पुरुष विशेष ईश्वर कभी भी बन्ध-कोटि में नहीं आता।

ऐसा है—उस महान्तम पुरुष का स्वरूप और उसका अपना गुण धर्म। जो उसके इस वास्तविक स्वरूप और गुण धर्म को जानकर श्रद्धा और विश्वास के साथ उसकी शरण में जाता है, ध्यान योग द्वारा उसका अनुचिन्तन करता है, वह निश्चय ही उस सर्व शक्तिमान आनंदमय प्रभु का दर्शन—उसका साक्षात्कार-

करके उनके उस आनंद धाम को प्राप्त कर पाने में सफल मनोरथ हो जाता है जहाँ जाकर फिर इस दुःख रूप संसार में लौटना नहीं पड़ता। जैसा कि जगदात्मा भगवान श्री कृष्णचन्द्र ने स्वयं अपने मुख से अपने इस 'आनन्द धाम' का परिचय देते हुए कहा है—

यद् गत्वा न निवर्तन्ते
तद्धाम परमं मम ।

योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में यह भी स्पष्ट किया है कि केवल श्रद्धा विश्वास और प्रणव-जप, का सम्मान ही—इस परम धाम अथवा परमपद पा लेने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता अपितु इसके लिए यह भी आवश्यक है कि साधक श्रद्धापूर्वक योग के मार्गपर चलकर अपने 'स्व' का निर्माण करे। जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्यपरायण बनकर कर्मठता संयम-साधना ऋजुता तथा सत्यशीलता आदि के जीवन-मूल्यों को अपने आचरण में प्रतिष्ठित करे। बिना ऐसी पात्रता हासिल किये अव्यय परमपद का कोई अधिकारी नहीं हो सकता। भगवान श्रीकृष्ण की नीचे लिखी पंक्तियाँ इसी आशय का संकेत दे रही हैं—

निर्मान मोहा जित संग-दोषा,
अध्यात्म नित्या विनिवृत्त कामाः ।
द्वन्द्वै विमुक्ताः सुख दुःख संज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत् ॥

अर्थात् जो मान और मोह की परिधि से परे हो चुके हैं, आसक्ति रूपी दोष से जो दूर हैं, अध्यात्म चिन्तन में ही जिनकी स्थिति दृढ़ रहती है, कामनाओं को भी भस्मीभूत कर चुके हैं तथा सुख दुःख आदि द्वन्द्वों से भी दूर हो चुके हैं ऐसे विवेकी कर्मशील मुमुक्षु जन ही अव्यय परमपद अथवा परम धाम के अधिकारी होते हैं।

यह परमधाम या परमपद प्रभु का ऐसा नहीं है, जो हमसे देश-काल की दूरी रखता हो या यह ब्रह्माण्डसे दूर या उसके अन्तर्गत किसी एक कोनेमें कहीं अवस्थित हो। वे सर्वव्यापी प्रभु तो ब्रह्माण्ड के अणु-अणु में व्याप्त हैं। सर्वत्र हैं और सर्व-कालमें हैं तथा सर्वान्तर्यामी हैं 'ईश्वरः सर्व भूतानां, हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति' की उनकी उक्तिकेनुसार वे हमारे आपके और सब प्राणियों के हृदयदेश में अणुता अणीयान् और महतो महीयान, की संज्ञा लेकर विराजमान हैं। माना कि वे अव्यक्त हैं, मन वाणी, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय आदि की पहुँच से परे हैं फिर भी उन की सार्वदेशिक सार्वकालिक सत्ता को, उनकी उपस्थिति को नकारा नहीं जा सकता। श्वेताश्वतरोपनिषद् में तपोनिष्ठ ऋषिने भी उनकी अव्यक्त उपस्थिति और सत्ता का वर्णन करते हुए उपरोक्त मान्यता का समर्थन निम्न शब्दों में किया है:—

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पि-
रापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः ।

एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ।

—श्वेताश्वतर अ० १/१५

अर्थात् जिस प्रकार तिलों में तेल, दही में घी, स्रोतों में जल तथा अरणियों में अग्नि छिपी रहती है उसी प्रकार परमात्मा हमारे हृदय रूपी गुहा में छिपे हुए हैं जिस प्रकार अपने अपने स्थानों में छिपे हुए तेल घी पानी और अग्नि आदि—प्रयत्न करने पर उपलब्ध किये जा सकते हैं उसी प्रकार साधक को हृदय गुफा में अथवा अणु-अणु में परिव्याप्त आनंदघन परमात्म तत्त्व को भी सदाचार सत्य भाषण, संयम और तप त्याग भरा जीवन जीने से सुलभ हो जाते हैं।

ऋषि ने उपरोक्त मंत्र में प्रभु की अव्यक्त सत्ता का तथा सत्य और तपोमय शुभ आचरण से उसकी प्राप्ति के उपायों का उल्लेख किया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं, कोई भी विवाद और वितर्क नहीं कि सत्य से, तप और संयम साधना से ओतप्रोत सदाचारपरायण शुचि जीवन ही हमें उस परम पद की प्राप्ति करा सकता है, जिसे पाकर फिर और कुछ पाने की कामना ही नहीं रहती। ब्रह्मानन्द के अगाध और अनिर्वचनीय आनन्द-सागर में अपने 'स्व' को विलीन कर देने में जो समर्थ हो पाते हैं वे फिर इस पुनरावर्तन के फेर में पड़ने से बचकर प्रभु की व्यवस्था और शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार परम पद, परमधाम अथवा मोक्षपद के भागी हो जाते हैं।

ऊपर हमने यह बतलाने की चेष्टा की है कि इस ब्रह्मानन्द से सराबोर परम पद अथवा परम धाम की प्राप्ति उन्हें ही हो पाती है जिन्होंने अपने जीवन पथ में सदाचरण, संयम साधना, सत्य-तप, यम-नियम आदि का पाथेय संजोकर रख लिया है?

कैसे मिले यह निःश्रेयस्कर पाथेय कि जिससे हमारा इहलौकिक और पारलौकिक जीवन अपने लक्ष्य को पा सके? इस पर जब हम विचार करते हैं, ऋषि-उपदेशों और तपोनिष्ठ जीवन जीने वाले मुनियों, योगियों, और सन्तों के साधना भरे जीवन का अवलोकन करते हैं तो उत्तर केवल यही मिलता है कि योगी का जीवन ही एक मात्र ऐसा जीवन हो सकता है, जो संसार के त्रिविध दुःखों का समूलोन्मूलन कराते हुए ब्रह्मानन्द अथवा मोक्ष पद जैसे दुर्लभतम् बिन्दु पर किसी भी साधना प्रिय साधक को सहजतया से लाकर खड़ा कर देता है। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को निमित्त बनाते हुए विश्व के मानव को यही सन्देश तो दिया है कि अर्जुन! यदि शाश्वत आनन्द की तुझे चाह है—लक्ष्य बिन्दु पर पहुँचना चाहता है तो योगी बन। 'तस्माद् योगी भवार्जुन' उनका यह सन्देश-

योगी जीवन की महत्ता का परिचायक है। एक नहीं अनेक स्थानों पर उन्होंने योगी-जीवन की विशेषताओं का वर्णन अपने गीता शास्त्र में किया है। आठवें अध्याय में जगद-आत्मा ने अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए कहा है—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
    दानेषु यत्पुण्य फलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तद् सर्वमिदं विदित्वा
    योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

—गीता ८/२८

अर्थात् योगी पुरुष यह जानकर कि वेदों के पढ़ने में और यज्ञ तप करने में जो प्रकट फल कहा गया है उन सबको पार करता हुआ सनातन परमपद को प्राप्त कर लेता है।

इसीलिए सब काल में उन्होंने मोह से मुक्त होकर—योग युक्त होकर रहने का परामर्श अर्जुन को दिया—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु
    योग युक्तो भवार्जुन।

योगिराज भर्तृहरि ने भी अपने वैराग्य शतक में इसी भगवान कृष्ण की—योगी जीवन जीने की विधि का समर्थन करते हुए कहा है कि विविध आशा-तृष्णाओं से भरी और रागग्राहवती नदी को पार करना है तो योगी का जीवन जीने का प्रयास करो क्योंकि योग पथानुगामी ही संसार रूपी महार्णव को पार करने की सामर्थ्य रखते हैं। वे कहते हैं:

आशा नाम नदी मनोरथ जला
    तृष्णा तरंगाकुला
रागग्राहवती वितर्क विहगा
    धैर्यद्रु मविध्वंसिनी
मोहावर्त सुदुस्तरा अतिगहना
    प्रोतुङ्ग चिन्तातटी
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो
    नन्दन्ति योगीश्वराः।

—वैराग्य शतक-४९

अर्थात् ऐसी दुर्गम आशा रूपी नदी को शुद्धान्तःकरण वाले योगीश्वर ही पार करके परमानन्द से परिपूर्ण प्रभु के परमपद अथवा परमधाम को प्राप्त करके कृतार्थ हो पाते हैं, जिस में तृष्णा की विकट लहरें और रागद्वेष जैसे मगर मच्छ तथा घड़ियाल जीव को निगल जाने को तैयार खड़े रहते हैं—जिसका किनारा है दुःसह चिन्तायें और जिस में भयावह मोह रूपी भंवर पड़ते रहते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त उद्धरण इस सत्य को स्पष्ट उजागर करते हैं कि यौगिक जीवन-पद्धति ही वह पद्धति है, जिसे सोपान बनाकर परम पद अथवा मोक्ष पद की प्राप्ति की जा सकती है। 'अधुरात्मा न निवर्तन्ते तद्धाम परं मम' की उपलब्धि का राज म.नं-योग दर्शन में वर्णित साधन-मार्ग ही एक मात्र ऐसा मार्ग है

जो हमें सद्गुरु के सानिध्य में—शारीरिक शुचिता, सत्य निष्ठा, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य तथा वैराग्य के आभूषणों से अलंकृत कर के लक्ष्य बिन्दु तक इसी जीवन में ही पहुँचा देने की क्षमता रखता है। इस यौगिक-जीवन पद्धति को श्रद्धा से दृढ़तापूर्वक जिन्होंने अपनाया है—वे निश्चय ही आत्म-कल्याण के भागी हुए हैं। इसलिए उन सब से, जो आत्म-कल्याण और परमपुरुषार्थ का—मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा का बीज अपने अन्तर में रखे हुए हैं यह श्रुति-सम्मत परामर्श दे देना हम उचित समझते हैं कि आत्म कल्याण और परमपद प्राप्ति के ओर ले चलने के लिए, साथ ही इस लोक में भी स्वस्थ क्लेश रहित आनन्दमय दीर्घ जीवन व्यतीत करने के लिए—जिससे कि आधार बनाकर परम पद पाने का सद् प्रयास वे कर सकें—योग मार्ग अपना लेने के अलावा और कोई अन्य मार्ग है ही नहीं—

नान्यः पंथा विद्यते अयनाय

इस श्रुति वाक्य को कभी नहीं भूलना चाहिए।

यही मार्ग सिद्धमार्ग है। बढ़े चलो निर्भय और दृढ़ प्रतिज्ञ होकर तुम इस मार्ग पर। महाप्रभु जी का आशीर्वाद और कृपा-कर सदा उनका मार्ग-प्रदर्शन किया करता है जो उनके नाम-स्मरण का सहारा लेकर आगे बढ़ते हैं। लेकिन आगे बढ़ने की साधक की गति में—ऐसा आवेग—ऐसी ललक होना जरूरी है जैसी कि समुद्र की ओर दौड़कर जाती हुई प्रवहमान नदियों में हुआ करती है। यानी 'यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा-द्रवन्ति' की स्थिति में उसे अपने को ले आना होगा। इसी स्थिति को 'योग-दर्शन' में महर्षि पतञ्जलि ने 'तीव्र संवेग' की संज्ञा दी है। यह तीव्रसंवेग ही योगियों का विशेष आयुध होता है जिससे वे समाधि-लाभ प्राप्त किया करते हैं। जितनी तीव्रता-जितना संवेग लेकर साधक योग-पथ पर आगे बढ़ेंगे—महाप्रभु का कर भी उसी तीव्रता से—उसी आवेग से तुम्हारे मार्ग को प्रशस्त बनाने में और तुम्हें लक्ष्य तक पहुँचाने का में सहायक होगा। महाप्रभु जी की जन्म जयन्ती का यही पावन सन्देश है कि तुम सभी अपने योग-साधना-पथ-पर तीव्र संवेगमना होकर उसी प्रकार लक्ष्य प्राप्ति के लिए गतिशील बने रहने का सतत् प्रयत्न करते रहो जिस प्रकार जंगली जानवरों से भरे जंगल से होकर गुजरने वाला कोई पथिक घर पहुँचने की लालसा में जल्दी जल्दी चलने और आगे बढ़ते जाने का प्रयत्न करता है।

अभय समस्त सद्गुणों में अग्रगण्य है। अभय-जल से सिंचित होने पर ही जीवन वृक्ष फलता फूलता है।

अहम् का परित्याग

'ब्रह्मनिष्ठ-स्थितप्रज्ञ' कोई धीर और शूर ही 'प्रत्याहार-प्राप्त' आत्मतेज द्वारा एषणाओं सहित 'अहम्' को परास्त करके इसका विसर्जन कर सकता है।

छान्दोग्य के अष्टम प्रपाठक का प्रारम्भ करते हुये ऋषि कहते हैं—हे सौम्य! मानव-देह के आभ्यन्तर प्रदेश में स्थित हृदय में विद्यमान 'ब्रह्मपुर-नामक' 'पुण्डरीक-कोष' है, उसमें व्यापक परमभास्कर-गगनमण्डल में चन्द्र के समान 'आत्मा' और आदित्य के समान स्थित 'परमात्मा' को जानो। इनको बिना जाने-पहचाने उपासक उस 'भूमिपति' के समान हीन-दीन-दरिद्र बना रहता है, जिसकी भूमि में अपार धन-राशि गड़ी हो, पर उसे ज्ञात न हो। पर इन दिव्य-ज्योतियों को जाने कैसे? 'ब्रह्मपुर' के 'सिंह-द्वार' पर बैठा भयानक प्रहरी 'अहम्' उस 'नाग' के समान है जो देखने में प्रियदर्शी होता हुआ प्रत्येक आगन्तुक को अपनी विषैली फूत्कार से ही मूर्छित कर देता है, यदि कोई शूर 'अन्तःप्रवेश' कर भी जाय तो कामना या वासना रूपी असंख्य नागिनें पथ रोके हुए दीख पड़ती हैं, वहाँ तो वही 'जितेन्द्रिय शूर ब्रह्मचारी' प्रवेश पा सकता है, जिसके पास 'विवेकज तारक-ज्ञान' का दिव्य-आलोक तथा पर-वैराग्य की 'अदम्य-शक्ति' हो, जिसके तेज तथा प्रहार को ये नाग-नागिनें सहन न करके आधीनता स्वीकार कर लें। अथवा वह धीर निर्भय होकर वहाँ पहुँच जाता है जो 'ईश्वर-प्रणिधान-आत्म-समर्पण' करके उस विश्वपति द्वारा 'वरण' कर लिया गया हो, क्योंकि प्रत्येक 'वरणी' को 'प्रसाद-रूप' में वह अजेयशक्ति 'ब्रह्मतेज' उपलब्ध हो जाती है जिसके समक्ष संसार की उद्दंड बनी समस्त शक्तियाँ-बल उग्रता आदि विफल बनी हैं—नत हो जाती हैं। उक्त दोनों में से एक भी 'महाशक्ति' के हस्तगत हो जाने पर क्या 'अहम्' और क्या उसकी सन्तति—कामनाएं, वासनाएं, एषणाएँ एवं समस्त विकार-समूह ऐसे ही पलायन कर जाते हैं जैसे गर्दभ के सिर से सींग, अथवा उक्त सभी अमूर्त और दूषित ऐसे नष्ट हो जाते हैं जैसे पतझड़ आने पर वृक्ष-वल्लियों से झड़े पत्ते, तदनन्तर उपासक में व्यापी दिव्यता ऐसे फूट पड़ती है जैसे मधुमास-वसन्त में वृक्षों पर पत्र पुष्प और यौवन में शरीर पर सुषमा और लावण्य निखर उठते हैं।

ब्र० जगन्नाथ

शाम्भवी मुद्रा रहस्य

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

सिद्धयोग साधना का विहंगम मार्ग है, इस मार्ग का साधक परम कल्याणमय श्रीगुरुदेव की सहज कृपा पाकर शीघ्र सुषुम्णा मार्ग द्वारा पश्चिमवाही प्राण की क्रियाओं को सिद्ध कर राजयोग का अभ्यासी बन जाता है। शनैः शनैः निरन्तर-तत्परता से यदि अभ्यास बढ़ाता चला जाय तो कुछही समय में लयता, उन्मनी अवस्था, महावस्था तथा दिव्य-दृष्टि एवं शास्त्रों के गूढ़ रहस्यों को शीघ्र समझने की प्रतिभा विकसित हो जाती है। साधक की वासना का क्षय (संस्कार क्षय) तथा मनोलय एवं चित्त और प्राण की स्थिरता उसे समाधि-द्वार पर खड़ा कर देती है उस स्थिति में साधक 'उन्मनि रहनि', 'सहज समाधि' तथा अनासक्त कर्म का अधिकारी सरलता से हो जाता है। इन अवस्थाओं में पहुँचने पर साधक ईश्वर के गुणों से संयुक्त हो जाता है, जैसे आग के संयोग से लोहा आग ही बन जाता है। उसमें दाहकत्व गुण आ जाता है उसी प्रकार प्राणके सुषुम्ना द्वार के मध्य में चल पड़ने पर ब्रह्म, विष्णु तथा रुद्रग्रन्थियों का भेदन हो कर शून्य युग्म विभाजित अद्वैत में शिवयोगी आत्मा को जान कर आत्मा में ही रमण करता है। ऐसे योगी को काल, कर्म स्वभाव और गुण सुख-दुःख तथा जन्ममरण के चक्र में नहीं फँस पाते। समाधि का हृदयगम सहज गति से होने लगता है जिसके फलस्वरूप प्रारब्ध के कठोर कर्मों का शीघ्र भोग हो जाया करता है। इसी अवस्था में श्री गुरुदेव की कृपा से प्रमथ तथा उससे ऊपर सहज ध्यान महामुद्रा महाबन्ध, खेचरी, शाम्भवी आदि गुह्य मुद्राएँ योगी साधक को बिना प्रयासके अपने आप सुलभ होती है। इन बन्ध और मुद्राओं से साधक नीचे नहीं गिर पाता। श्री गुरुदेव ने एक बार अपने श्रीमुख से उप-देश किया था कि जिस साधक पर गुरुदेव कृपा करते हैं उसे तालाकुञ्जी दे देते हैं जिस से साधक ताला लगाकर योग निधि को सुर-क्षित रख सके और विघ्नों की परवाह किये बिना अपनी योग साधना को निर्विघ्नरूप से करता रहे। ये बन्ध और मुद्रायें साधक की यात्रा के लिए सोपान का काम करते हैं। जहाँ से साधक शनैः शनैः राजयोग के पथ पर मोक्ष पर्यन्त अव्याहत गति से चलता रहता है।

मुद्रा क्या तथा सिद्धि कैसे?—

जो गुरुदेव बीजरूप से शक्ति का अंकुर प्रदान करते हैं। साधक को श्रद्धा तप और लगन के साथ अभ्यास द्वारा उसे सिंचित एवं संपुष्ट करना आवश्यक है। यदि साधक आलस्य और प्रमादवश भी गुरुप्रदत्त शक्ति

का सम्मान नहीं करता, उसे पाल-पोस कर बड़ा नहीं बनाता तो वह शक्ति रुष्ट होकर साधक का अहित करने लगती है। उसमें मिथ्याहंकार बढ़ने लगता है। यह अहंकार ही उसे नष्ट कर देता है। अतः योग साधक को अभ्यास परायण बना रहना चाहिए। अभ्यासशील साधक को भी सद्गुरुदेव की कृपा से गुप्त क्रियायें तथा मुद्राएं स्वप्नोपदेश या जाग्रत अवस्था में उपदेश से प्राप्त हो जाती है। इसीलिए यह कहावत प्रचलित है कि 'योगिनां योग एव उपाध्यायः।' अर्थात् योगी का योगाभ्यास ही आगे की स्थिति का शिक्षक होता है। शिव संहिता में भगवान सदाशिव कहते हैं कि—

मुद्राणां सिद्धिरभ्यासात्
　　　अभ्यासाद्वायुसाधनम् ।
कालवंचनमभ्यासात्तो
　　　मृत्युञ्जयो भवेत् ।
वाक्सिद्धि, कामचारत्वं
　　　भवेदभ्यास योगतः ।
　　　　　(१९)

सतत अभ्यास परायण होने से मुद्राओं की सिद्धि होती है अभ्यास से ही प्राणजय तथा कालजय वाक् सिद्धि, इच्छानुसार रूप धारण की योग्यता तथा इच्छागमन आदि की सिद्धि होती है।

मुद्रा शब्द में दो शब्द है—'मु' और 'द्रा' योग की शब्दावलि बहुत गम्भीर तथा सार्थक होती है उसी अध्यात्म विद्या की अभिव्यक्ति के लिए चुने हुए शब्दों का प्रयोग किया जाता है। कबीर ने उलटबांसियों के माध्यम से उन रहस्यों को उद्घाटित किया है। मुद्रा शब्द में मु का अर्थ है—'मुद' मंगल, प्रसन्नता, मोद, आनन्द। द्रा का अर्थ है—द्रवित करना, द्रावण करना, पाप समूह को नष्ट करना।

मुदं करोति देवानां,
　　　द्रावयत्यसुरांस्तथा ।
मोदनाद् द्रावणाच्चैव,
　　　मुद्रेति परिकीर्तिता ॥
मोदनात् सर्व देवानां,
　　　द्रावणात् पाप संहतेः ।
तस्मान्मुद्रेति सा ख्याता
　　　सर्व कामार्थ साधिनी ।

मुद्रायें देवताओं को प्रसन्न करती है तथा यह असुरों को कष्टदायक होती है। मुद्रायें पापों की शक्ति को पिघला कर दूर बहाती है तथा सभी देवताओं को प्रसन्नकर अनुकूल बनाती है। मुद्राओं से योगी को मार्ग-सफलता का पहचान हो जाती है। मुद्रा से साधक अपनी क्रियाओं की सफलता तथा दिशा का स्वयं भान कर अपने साधना मार्ग में आत्मविश्वास तथा दृढ़ता के साथ बढ़ता चला जाता है। इन के अभ्यास से मन एकाग्र हो जाता है। बिन्दु दृढ़ होता है तथा योगनिद्रा की स्थिति

स्वतः होने लगती है जिससे साधक निरन्तर समाधि में स्थित रहने लगता है। जिस के फलस्वरूप संस्कार चक्र का प्रवाह साधक पर प्रभाव नहीं डाल पाता।

शाम्भवी मुद्रा—

शम्भु स्वरूप श्री सद्गुरुदेव की परम प्रसन्नता के फलस्वरूप साधक में आज्ञा-चक्र के जागरण से तारक ज्ञान का उदय होता है। इस ज्ञान से साधक हस्तामलकवत् सब शास्त्रों का रहस्य जान कर अविद्या के बन्धन काटने में सोत्साह प्रवृत्त हो जाता है। उस स्थिति में साधक में वशित्व, सर्व विषय ज्ञातृत्व तथा ज्योति पथ में सिद्धों के दर्शन की योग्यता आने लगती है प्राण अपान का आकर्षण करता है जिससे प्राण सुषुम्ना मार्गसे सहस्रार की ओर चल पड़ते हैं साधक ऊर्ध्वरेतस् की ओर चल पड़ते हैं महाकाल की उसे कृपा प्राप्त होती है सुषुम्णा नाडी की ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होने पर ब्राह्मी शक्तियों का साक्षात्कार होता है। उसी प्रकार वैष्णवी शक्तियों का तथा रुद्र ग्रन्थि का भेदन करने पर शाम्भवी शक्तियों का दर्शन होता है। साधक की दिव्य दृष्टि हो जाती है। वह अतीत अनागत विषयों का ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य वाला हो जाता है। यहां पर अहंकार और काम का प्रभाव नहीं रहता है। त्रिकूटरी ग्रन्थि का आवरण होने से साधक का मुख मण्डल नूतन बालवत् प्रफुल्लित रहता है। साधक में मुदिता का आविर्भाव होता है। ब्रह्मोपनिषद् के अनुसार कण्ठ से लेकर मूर्धा पर्यन्त शाम्भव स्थान कहा गया है—

मूलाधारादिषट्चक्रं
शक्ति स्थान मुदीरितम्।
कण्ठादुपरि मूर्धान्तं
शाम्भवं स्थान मुच्यते॥
(४३)

मूलाधार से लेकर सहस्रार तक छहों चक्रों में विभक्त देवों और अधिदेवों का स्थान है। इन्हीं चक्रों में शक्ति का निवास स्थान है। आज्ञाचक्र में शाम्भवी शक्ति का निवास स्थान है।

मूर्धा स्थान पर सर्व कार्य साधिका महाशक्ति कुण्डलिनी की महेश्वरी महाशक्ति है। जिसकी कृपा योगनिद्रा तथा गुरुज्ञान प्राप्त होता। इसे ही माँ शारदा या सरस्वती भी कहते हैं। योनिमुद्रा, खेचरी, भूचरी, चाचरी अगूंरी, शंखिनी, गोमपद्मिका, विपरीत करणी आदि बहुविधि मुद्राओं में शाम्भवी मुद्रा सर्व श्रेष्ठ मुद्रा है क्योंकि यह परमार्थ साधिका है, इस मुद्रा से साधक उन्नति करता चला जाता है। यह मुद्रा अत्यन्त गोपनीय है। आनन्दकन्द श्री गुरुदेव की परम कृपा के फलस्वरूप साधक को यह मुद्रा प्राप्त हुआ करती है। भगवान शिव की परम प्रिय शक्ति शाम्भवी

शक्ति है। भगवान शिव को यह इतनी प्रिय है कि वे स्वयं भी अर्द्धोन्मीलित अन्तर्लक्ष्य दृष्टि से अखण्ड समाधि में इसी मुद्रा से लीन रहते हैं। भगवान शिवके सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

प्रभु समरथ सर्वज्ञ शिव,
सकल कला गुण धाम।
योग ज्ञान वैराग्य निधि,
प्रणत कल्प तरु नाम॥

योग, ज्ञान, विवेक और वैराग्य के दाता भगवान सदा शिव हैं। उन्हीं की प्रिय मुद्रा है, शाम्भवी मुद्रा ? जिसके अभ्यास से साधक को दिव्य ज्ञान स्वतः स्फुरित होता है। यह मुद्रा अन्तर्ज्ञान तथा बाह्यज्ञान एवं दिव्यदृष्टि प्रदान कर साधक को उन्नति पथ पर आरूढ़ करती चली जाती है।

दिव्य दृष्टिः समायाति-
रन्तर्ज्ञानं तथैव च।
बहिर्ज्ञानं च संयाति
सा मुद्रा शाम्भवी मता॥

यह मुद्रा योगसाधना की कसौटी है। साधक में विवेक वैराग्य कितनी मात्रा में विकसित हो रहा है, इस का ज्ञान शाम्भवी मुद्रा के द्वारा हो जाता है। यह सभी मुद्राओं की कुञ्जी है। परमार्थ की गुप्त बातों का यह मुद्रा ज्ञान करा देती है। यह साधक को दिव्य चक्षु, तत्व ज्ञान तथा अविच्छिन्न एकाग्रता प्रदान करती है।

शाम्भवी मुद्रा सहज ही तारक योग प्रदान करने वाली है। महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र के तृतीय पाद के तेतीसवें सूत्र में (प्रतिभाद्वा-सर्वम्) तारक योग का संकेत किया है। उक्त सूत्र के भाष्य में महर्षि व्यास ने स्पष्ट किया है कि प्रातिभ का अर्थ तारक होता है। विवेक-ज्ञान से पूर्व होने वाला प्रातिभ ज्ञान कहलाता है। जिस प्रकार सूर्योदय से पूर्व की लालिमा प्रकट होती है। उसके धुंधले धुंधले प्रकाश में कुछ पर्वत आदि हल्के नजर आते हैं। प्रातिभज्ञान के उदित होने पर योगी विद्या तथा अविद्या के कार्यों को जानकर परमार्थ पथ पर कटिबद्ध हो तीव्र संवेग से आरूढ़ हो जाता है। यह तारक योग श्रीमद् गुरुदेव की अमूल्य निधि है। तारक योग के विषय में महर्षि पतंजलि कहते हैं—

"तारकं सर्व विषय सर्वथाविषय-मक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।"
—३/५४

तारक योगक ज्ञान बिना उपदेश के स्वतः अपनी प्रतिभा में से उद्भूत होता है। लौकिक पारलौकिक सभी विषयों का ज्ञान कराने वाला होने के कारण इसे 'सर्वविषयम्' कहा गया है। योगी अतीत अनागत तथा वर्तमान सभी को यहरस्य भली भांति जानता है अतः 'सर्वथा' यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है। यह

ज्ञान बिना क्रम के एक क्षण में ही स्वतः स्फूर्त होने वाला होने के कारण 'अक्रम' कहा गया है। यह विवेकज ज्ञान परिपूर्ण ज्ञान है। इस से योगी मधुमती भूमिका पर आरूढ़ होजाता है। सन्त तुलसी इस स्थिति का निरूपण इन शब्दों में करते हैं :—

होइ विवेक मोह भ्रम भागा।
तब रघुनाथ चरण अनुरागा।

भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का सूर्योदय तारक ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। इस स्थिति में सम्प्रज्ञात समाधि का चरमोत्कर्ष प्रकट होता है जिससे योगी के हाथ में योग का प्रदीप आ जाता है। उसके प्रकाश में योगी प्रकृति और पुरुष या जड़-चेतन की ग्रन्थि खोलकर अपने को निहाल कर लिया करता है।

अद्वयतारकोपनिषद् में शाम्भवी मुद्रा की धारणा के सम्बन्ध में निर्देश है कि शाम्भवी मुद्रा दो प्रकार की धारणासे सिद्धकी जासकती है अन्तः धारणा और बहिर्धारणा। इसमुद्रा मेंदृष्टि अपने लक्ष्य पर एक टक निर्निमेष रूप से ठहर जाती है। आज्ञा चक्र में भ्रू युगमध्य छिद्र में बिन्दु रूप तेज है। यह तेज भगवान शिव के मस्तक पर चन्द्रमा के प्रतीक से चित्रित किया जाता है। इस ऊर्ध्व तेज के साथ मन को संयुक्त करने से अमनस्क योग सिद्ध होता है। तालुमूल के ऊर्ध्व भाग में महान ज्योति का पुंज है। उस का ध्यान करने से अणिमा आदि सिद्धियां प्राप्त होती है। यहां साधक दोनों मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के भावों को ज्योति स्वरूप ही देखकर आनन्दित होता है। शाम्भवी मुद्रा का प्राकट्य श्री सद्गुरु के तेजोमय स्वरूप के हर समय चिन्तन करते रहने तथा अंत में श्री गुरुदेव की शक्ति का उल्लास अनुभव करने पर उस समय स्वतः हो जाता है जब साधक अपने काम क्रोध, धर्म अधर्म, इन्द्रियां, देह, मन बुद्धि—सब कुछ श्री गुरुदेव के चरण कमलों में समर्पित कर श्री गुरु शक्ति पर अपार श्रद्धा तथा अटूट विश्वास कर योग को जीवन की परम निधि समझने लगता है, श्री गुरुदेव की चिन्मय सत्ता साधक के हृदय में प्रविष्ट हो कर उसके प्राणों को चालित करती हुई महा-शक्ति शाम्भवी कुण्डलिनी को प्रबुद्ध कर दिया करती है। इस अवस्था में मधुरभाव और रागानुगा भक्ति प्रबल हो जाती है। नाम जप अन्दर ही अन्दर स्वतः चल पड़ता है। अखण्ड नाम जप के साथ-साथ ध्यान परिपक्व होजाता है तथा देहाध्यास नष्ट हो जाता है फिर साधक को प्रारब्धजन्य सुख और सामान्य संस्कार व्याकुल नहीं करते। इस मुद्रा के निरन्तर अभ्यास से कालान्तर में साधक क्लिष्ट कर्मों को अनेक शरीर बनाकर एक ही काल में भोगकर दग्ध बीज भाव में परि-णत कर देता है। उस अवस्था में श्री गुरुदेव

स्वयं योगी के हृदय में बैठकर उससे लोकहित का कार्य कराने लगते हैं। इस मुद्रा की तीव्र साधना से शनैः शनैः साधक में गुणातीत अवस्था आ जाती है।

हठयोग प्रदीपिका में शाम्भवी मुद्रा का यह स्वरूप बताया गया है :—

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिः
निमेषोन्मेष वर्जिता।
एषा सा शाम्भवी मुद्रा
वेद शास्त्रेषु गोपिता।
—४/३६

वेद शास्त्र पुराणानि
सामान्या गणिका इव।
एकैव शाम्भवी मुद्रा
गुप्ता कुलवधूरिव॥
—४/३५

अन्तर्लक्ष्य विलीन चित्त पवनो,
योगी यदा वर्तते।
दृष्ट्या निश्चल तारया
बहिरधः पश्यन्न पश्यन्नपि॥
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति
सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः।
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति
तत्तत्वं परं शाम्भवम्॥
श्री शाम्भव्याश्च खेचर्या
अवस्था धाम भेदतः।
भवेच्चित्त लयानन्दः
शून्ये चित्सुख रूपिणि॥
तारे ज्योतिषि संयोज्य
किञ्चिदुन्नमयेद् भ्रुवौ।
पूर्वयोगं मनोयुञ्जन्नुन्मनी
कारकः क्षणात्॥

प्रायः सामान्य जन इन आंखों से बाहर के नजारे ही देख पाते हैं।

'कश्चिद्धीरः प्रत्यग् आत्मनैक्षदा-वृत्तचक्षु रमृतत्वमिच्छन्'

इस उपनिषद् के सिद्धान्तानुसार केवल योग साधक ऐसा होता है जो अमृत स्वरूप आत्मतत्व के दर्शन के लिए धैर्य पूर्वक साधना में लगकर अन्तर्दृष्टि विकसित कर लेता है। उसे फिर बाहर का जगत ऐसे ही महत्वहीन दिखाई पड़ने लगता है, जैसे सूर्य के प्रकाश में बिजली का प्रकाश या खुले स्थान पर दिन में टेलीविजन का दृश्य। साधक को अन्तर्दृष्टि मिल जाती है, जिससे वह बाहर कम, अन्दर अधिक देखा करता है। अन्दर की दृष्टि ज्ञान दृष्टि होती है और बाहर की दृष्टि व्यवहार दृष्टि होती है जिस साधक की ये दोनों दृष्टियां एक साथ प्राप्त होती रहती हैं उसकी दृष्टि का ऐसा संतुलन बन जाता है कि उस की पलकें नहीं गिरतीं। देवताओं के बारे में प्रसिद्ध है उनकी छाया नहीं होती तथा उनकी पलकें नहीं गिरतीं। इन्हीं लक्षणों से दमयन्ती ने मनुष्य रूप नल और नल के वेश में छिपे

देवताओं को पहचान कर अवतों मत का वरण किया था। निर्निमेष नयनों वाला साधक ही वेदशास्त्रों का गूढ़ रहस्य समझ पाता है। शाम्भवी मुद्रा में बाहर दृष्टि होते हुए भी अर्द्धनिमीलित दृष्टि से साधक मस्तिष्क के केन्द्र में ज्योतिपुञ्ज या चिदाकाश को देखता है अथवा नासिकाग्र को अन्तर्दृष्टि से देखता है—अथवा सिर के पृष्ठ भाग में रुद्राक्ष के छिद्र की भांति छिद्र को अपनी धारणा का विषय बनाता है अथवा अपने गुरुदेव के तेजो-मण्डल की व्यापक सत्ता में अपने मन को लय करता है। शास्त्र स्वयं उपस्थित होकर उस साधक के समक्ष उसी तरह विवस्त्र हो जाता है जैसे कुलांगना अपने पति के सम्मुख आवरण रहित हो जाती है। साधारण मनुष्यों को शास्त्र अपना ऊपरी अर्थ दिया करते हैं। वह शास्त्र के हृदय में बैठने का अधिकारी नहीं होता। शास्त्र का सामान्य अर्थ गणिका की भांति सभी को सुलभ हो सकता है किन्तु उसका तात्पर्यार्थ शाम्भवी मुद्रा सिद्ध योगी को ही सुलभ हो पाता है यह शाम्भवी मुद्रा मोक्ष का द्वार है जिस पर विवेक और वैराग्य रूपी द्वारपाल पहरेदार के रूप में खड़े दिखाई पड़ते हैं। यह मुद्रा अनाख्येय विलक्षण तथा महा सिद्धिदात्री होने के कारण गुप्त है।

इसे कोई लाडला ही प्राप्त कर पाता है, श्री गुरुदेव की परम कृपा के फलस्वरूप किसी-किसी साधक को प्रसन्नता के पारितोषिक के रूप में श्री गुरुदेव के हृदय में संकल्प द्वारा साधक को चुपचाप यह मुद्रा प्राप्त हो जाती है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि साधक वर्षों तक यह जान ही नहीं पाता कि करुणा के सागर श्री गुरुदेव ने उसके अन्दर एक स्वयं प्रकाशित अद्भुत मणि रख दी है। जब उसका हृदय जगमग होने लगता है तो साधक उस मणि की सम्भाल करने की चिन्ता में व्याकुल रहने लगता है। श्रीगुरुदेव छिपकर साधक की छटपटाहट देखते रहते हैं। किसी भी कीमत पर जब साधक गुरुदेवजी की चरणों में श्रद्धा और विश्वास नहीं खोता तो गुरुदेव इस स्वयं प्रकाश मणि का सारा रहस्य उसे ज्ञात करा देते हैं। यह शाम्भवी, योग प्रदीप है। ' नहिं तहं चाहिय दिया और बाती।' रामचरित मानस में वर्णित ज्ञानदीपक यही है। इस दीपक के निकट अविद्या अस्मिता रागद्वेष अभिनिवेश सभी क्लेशों के पतंगे जल कर नष्ट हो जाते हैं। सोऽहं की अखण्डाकार वृत्ति का ढोल बजने लगता है बाह्य दृष्टि हृदय के द्वादश अंगुल शून्य स्थान में जहां दहराकाश है, वहां रहती है और अन्तर्दृष्टि मस्तिष्क में आज्ञाचक्र के अन्दर। हृदय और मस्तिष्क चित्त और मन, अनुभूति और ज्ञान भावना तथा विचार दोनों का सामञ्जस्य इस मुद्रा से होता है। शब्द और अर्थ की एक

सफलता इसी मुद्रा में होती है। शाम्भवी मुद्रा का जप ही अजपा जप कहलाता है। यह मुद्रा बड़ी ही विलक्षण है। इस मुद्रा से साधक को बाह्य जगत और अन्तर्जगत के सभी रहस्यों का बोध हो जाता है।

इस मुद्रा का अभ्यास नित्य निरन्तर नियम से करते रहने पर यह सिद्ध हो जाती है। इसकी सिद्धि साधक की श्रद्धातिशयता तथा अभ्यास की तीव्रता पर निर्भर करती है, इस में समय का कोई नियम या बन्धन नहीं है। किसी-किसी साधक को यह मुद्रा शीघ्र तो किसी को विलम्ब से सिद्ध होती है। अद्वय तारकोपनिषद के अनुसार—

'तन्मुद्रारूढ़ ज्ञानिनिवासात्
भूमिः पवित्रा भवति।'
(१२)

शाम्भवी मुद्रा का अभ्यासी ज्ञानी योगी जहाँ निवास करता है वहाँ की भूमि पवित्र हो जाती है। उसकी दृष्टि जिस पर पड़ती है, वह पवित्र हो जाता है। ऐसे योगी की कृपा का जिसे सौभाग्य प्राप्त होता है, वह मुक्ति भाजन बन जाता है।

मण्डल ब्राह्मणोपनिषद में शाम्भवी मुद्रा को गोपनीय महा विद्या कहा गया है। (१/४/५) इसके ज्ञान का फल बताया गया है—संसार से निवृत्ति तथा इसके पूजन का फल मोक्ष प्राप्ति। तारक योग के दो विभाग किये गये हैं—पूर्व तारक तथा उत्तर तारक। उत्तर तारक योग के पर्यवसान में मुक्ति फल प्रद शाम्भवी मुद्रा होती है। (द्रष्टव्य वही)। प्रारम्भ में साधक सिद्धासन में बैठकर जिह्वा के अग्रभाग को तालुमूल में लगाकर वहीं ध्यान करने का अभ्यास करे। फिर भ्रुकुटि के मध्य में ध्यान करे। पश्चात् षण्मुखी मुद्रा का अभ्यास करे। ऐसा करते-करते साधक को शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास होने लगेगा। शाम्भवी मुद्रा की स्थिति में साधक अग्नि मण्डल, चन्द्रमण्डल तथा सूर्यमण्डल और उसमें स्थित तारामण्डल का ध्यान करे तो बिजली की चमक के समान श्वेत प्रकाश का सागर चारों ओर लहराता अनुभव होने लगता है। उस अवस्था में साधक योगनिद्रा में चला जाता है। फिर उसे दिन और रात का पता नहीं रहता। उस अवस्था में काल की गति नहीं हो पाती। शाम्भवी मुद्रा में तीन प्रकार की दृष्टियाँ होती हैं—अमावस्या, प्रतिपदा और पूर्णिमा दृष्टि। जब आँखें बन्द होती हैं तो उसे अमादृष्टि कहा जाता है। आधी बन्द और आधी खुली अर्थात् अर्द्धोन्मीलित दृष्टि प्रतिपदा दृष्टि तथा आँखें पूरी तरह खुली हुई सर्वोन्मीलित दृष्टि पूर्णिमा कहलाती है। पूर्णिमा दृष्टि का अभ्यास उत्तम फलप्रद है। इसमें ध्यान का लक्ष्य नासाग्र है। इस ध्यान तालुमूल में प्रगाढ़ अन्धकार दिखाई देता है।

उसका अभ्यास करने पर अखण्ड मण्डलाकार तेज दिखाई पड़ने लगता है। इसे ही सहजानन्द और ब्रह्मानन्द नाम से शास्त्रों ने कहा है। इसी का एक प्रकार खेचरी है। यह अमनस्कता का वास्तविक निज स्वरूप है।

इसी मुद्रा से योगी सविकल्पक समाधि से निर्विकल्पक में प्रवेश करता है। जैसे नमक जल में मिलकर जल रूप हो जाता है उसी प्रकार योगी श्वासोच्छ्वास तथा द्वन्द्व रहित हो मन की चंचलता को जीतकर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर जीवन्मुक्त हो जाता है। वह संस्कार शून्य होने से जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है।

शाम्भवी मुद्रा की साधना का एक दूसरा प्रकार भी है। साधक जालन्धर बन्ध (ठोढ़ी को कण्ठकूप में लगाकर) मेरुदण्ड को सीधा या झुका रख खुली आँखों से हृदय, नाभि और कण्ठ-चक्र पर दृष्टि जमाकर विविध रंगों के दिव्य प्रकाश का दर्शन करता रहे। प्रकाश के दर्शन से शाम्भवी मुद्रा छः मास में सिद्ध हो जाती है।

साधना की चार अवस्थायें होती हैं— आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था तथा निष्पत्त्यावस्था। परिचय अवस्था में मन एकाग्र होता है तथा निष्पत्ति अवस्था में प्राण वायु भ्रकुटि से ऊपर ब्रह्म रन्ध्र में चली जाती है। इस अवस्था में साधक के अन्दर धारणा ध्यान समाधि तीनों को एक लक्ष्य करने से (संयम) की योग्यता आती है। शाम्भवी मुद्रा के अभ्यास से साधक चित्सुखस्वरूप लयानन्द में निमग्न होकर कृतकृत्य हो जाता है। इस शिव सन्निधि कारिणी मुद्रा के सतत अभ्यास से मनः की चंचलता दूर हो जाती है। बुद्धि के तर्क, भ्रम एवं सन्देह निवृत्त हो जाते हैं जिस से बुद्धि में स्थिरता आ जाती है। उसके चिह्न बताये गये हैं—

आदौ तारकवद् दृश्यते।
तो वज्र दर्पणम्।
ततः परिपूर्ण चन्द्रमण्डलम्।
ततो नव प्रभा मण्डलम्।
ततो मध्याह्नार्क मण्डलम् ततो
वह्निशिखामण्डलं क्रमाद् दृश्यते।

—मण्डल ब्राह्मणोपनिषद २/१/१०

इस मुद्रा में प्रथम तारे जैसे फिर वज्र के दर्पण की तरह तथा पूर्णिमा के चन्द्र, रत्नप्रभा मण्डल, दोपहर के सूर्य की तरह तथा अग्नि की शिखा की तरह दृश्यानुभूति साधक को होती है। इन चिह्नों से साधक मुद्रा की स्थिति का अनुमान लगा सकता है। अन्य उपनिषदों ने योग की सफलता के लक्षणों की परिगणना में इसी प्रकार के चिह्नों का उल्लेख मिलता है।

नीहार धूमार्कानलानिलानां
खद्योत विद्युत्स्फटिकशशीनाम्।

एतानि रूपाणि पुरः सराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्ति कराणि योगे ॥
—श्वेताश्वतर २/११

योगाभ्यासी साधक को शाम्भवी मुद्रा के अभ्यास में कुहरे, धुएँ, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, बिजली, स्फटिक मणि तथा चन्द्रमा का दर्शन ब्रह्म की अनुभूति के पूर्वरूप होता है। शाम्भवी सिद्ध हो जाने पर योगी आत्म-तत्त्व में स्थिति होकर कृतार्थ और शोक-रहित हो जाता है।

सद्गुरु तत्व की पहचान के लिए शास्त्रों में कई प्रकार के लक्षणों का जिक्र आता है। जिस योगी के ऊपर शाम्भवी की कृपा नहीं हुई वह मोक्ष का भाजन नहीं होता। शास्त्र-ज्ञान उसे भलेही होजाय वह गुरु पदवाच्य नहीं होता। ऐसे विद्वानों की सेवा करने से मुक्ति लाभ नहीं हो सकता। सेवा करने योग्य वही योगी है जो गुरु है। गुरु वही हो सकता है जो पूर्णता को प्राप्त हो गया है तथा जिस में निम्नलिखित लक्षण प्रकट है:

दृष्टिः स्थिरा यस्य
विनैव दृश्यात् ।
प्राण स्थिरो यस्य
विनावरोधात् ॥
चित्तं स्थिरं यस्य
विनावलम्बात् ।
स एव योगी स
गुरुः सः सेव्य ॥

बिना दृश्य के ही जिसकी दृष्टि अन्तर्लक्ष्य में स्थिर है। प्राण वायु मनोलय के कारण सहजरूप से बिन्दु में स्थिर है। चित्त निरालम्ब स्थिर है वही गुरु कल्याण कर सकता है। ऐसे सद्गुरुदेव की कृपा से शक्तिपात होता है और उनके संकल्प मात्र से प्राण पश्चिमवाही हो जाते हैं। कुण्डलिनीकल्लोल करती हुई नृत्य करने लगती है। चित्त प्राण वायु के साथ एक तत्त्व में लीन हो जाता है। ऐसे सद् गुरुदेव की कृपा से असम्भव भी सम्भव हो सकता है। उन्हीं की कृपा की धारा से मुझ जैसे मूढ़ के समक्ष योग के रहस्य प्रकट हो जाते हैं। यद्यपि शास्त्रों की आज्ञा है कि शाम्भवी के रहस्य को प्रकाशित नहीं करना चाहिए। गुरुदेव की आज्ञा शास्त्रों के विधि-निषेध से परे सर्वोपरि है। उनकी वस्तु उनके पादपद्मों में नैवेद्य के रूप में समर्पित है।

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥ (चाणक्यनीति)

वे माता और पिता अपने सन्तानों के पूर्ण हैं वैरी हैं जिन्होंने उनको विद्या की प्राप्ति नहीं कराई, वे विद्वानों की सभा में ऐसे तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं जैसे हंसों के बीच में बगुला। यहाँ माता, पिता का कर्त्तव्य कर्म परमधर्म और कीर्ति का काम है कि वे अपनी सन्तानों को तन, मन, धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तम शिक्षायुक्त करें।

मानव जीवन और गायत्री मंत्र

❀ स्वामी श्री आत्मानन्द जी महाराज

जीवन का प्रयोजन क्या है। इसका विश्लेषण यजुर्वेद के पहले ही अध्याय में दिया है—

कस्त्वा युनक्ति स त्वा,
युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति।
तस्मै त्वा युनक्ति,
कर्मणे वा वेषाय वाम्।
(१·६)

वेद के इस मन्त्र में दो प्रश्न हैं और दो ही उत्तर दिये हैं। पहला प्रश्न है—'तुझको किसने युक्त किया, अर्थात् तेरी आत्मा का इस शरीर के साथ किसने सम्बन्ध जोड़ा?' इस का उत्तर दिया है—'उस परमात्मा ने तुझे युक्त किया है।' दूसरा प्रश्न है—'किस प्रयोजन के लिए (आत्मा तथा शरीर का) मिलाप किया गया है?' इसका उत्तर है कि (१) उस परमात्मा के भजन-दर्शन-मिलाप के लिए, (२) सत्यव्रत, यज्ञ, धर्म-प्रचार, शुभ गुणों, विद्याओं को धारण करने, तथा (३) ज्ञान की उपलब्धि के लिए। यह तीन प्रयोजन या उद्देश्य है जिनको पूरा करने के लिए मानव-देह प्रभु-कृपा से प्राप्त हुआ है। इन तीनों प्रयोजनों का तीन शब्दों में वर्णन करना हो तो यह कहा जायगा कि (१) ज्ञान, (२) कर्म, (३) उपासना के लिए: और चारों वेदों में इन्हीं तीन तथ्यों का निरूपण है, इन्हीं का व्याख्यान है। महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के नियमों के अन्दर जो छठा नियम रखा है, वह भी इन्हीं तीन बातों को प्रकट करता है—

"संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है: अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।"

गायत्री तीनों का सार—

वेदों के लगभग बीस हजार मन्त्रों में शारीरिक, आत्मिक, और सामाजिक उन्नति का ही व्याख्यान है। परन्तु यह एक अकाट्य सत्य है कि जहां वेदों के सारे ही मंत्र कोई-न-कोई विशेषता रखते हैं, वहां वेदों का गायत्री-मंत्र विशेष विशेषता से भी बढ़ गया है, क्योंकि इसके अन्दर ज्ञान-कर्म-उपासना तीनों ही तत्व विद्यमान हैं। इसीलिए महर्षि ने गायत्री मन्त्र को 'महामन्त्र' का नाम दिया है। महात्मा योगेश्वर शिव ने गायत्री का नाम 'कामधेनु' रखा है, और समस्त यौगिक साधनों का मूलाधार भी गायत्री ही को बतलाया है। यही नहीं, शिव जी महाराज ने 'गायत्री-मंजरी' में यह भी आदेश किया कि 'कलियुग में गायत्री-मंत्र के द्वारा ही सर्वश्रेष्ठ सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं।' शृङ्गी ऋषि ने गायत्री को 'मोक्ष का मूल कारण' कहा है। व्यास मुनि 'गायत्री तथा ब्रह्म' में कोई भिन्नता नहीं समझते। भगवान मनु ने गायत्री को ब्रह्म का मुख (द्वार) लिखा है। प्रजापति ने गायत्री

के पहले ही पाद से तीनों लोकों का वैभव प्राप्त कर लेने की घोषणा की है। श्री शंकराचार्य जी ने गायत्री को जगत् की माता कहा है। विदेह जनक महाराज ने बुडिल को बतलाया कि गायत्रीविद् बहुत-सा पाप भी यदि करता रहा तो वह उस पाप को जलाकर शुद्ध-पवित्र हो जाता है। भीष्म पितामह ने 'महाभारत' के अनुशासन-पर्व में कहा है—'जहाँ गायत्री-जप होता है, वहाँ बालक मरते नहीं; वहाँ अग्नि हानि नहीं पहुँचाती; वहाँ गौएँ अधिक दूध देती हैं। गायत्री सर्वभूतों का हृदय है। यह सर्वश्रेष्ठ श्रुति है। चन्द्रवंशीय, सूर्यवंशीय, रघुवंशीय तथा कुरुवंशीय सब-के-सब इसी प्राणियों की गति परम पवित्र सावित्री (गायत्री) का ही पाठ करते हैं।' इसी गायत्री-मंत्र का जप नित्य-प्रति भगवान् कृष्ण शुद्ध-पवित्र होकर मौन रहकर किया करते थे। देवी-भागवत् में गायत्री-जप को ही सनातन बतलाया है। और स्वयं परमात्मा ने अथर्ववेद में यह आदेश किया है कि गायत्री 'वेदमाता' है; वरों को देने वाली है; आयु, स्वास्थ्य, सन्तान, धन, बल, पशु, वैभव, यश देने वाली है और परमात्मा के दर्शन कराने वाली है।

यही कारण है कि इसे गुरुमंत्र कहकर शेष सारे मंत्रों से विशेषता दे दी गई है। चाहते हैं सुख, मिलता है दुःख! आज की दुनिया हो पहले युगों की दुनिया, हर काल, हर समय और हर स्थान का मानव चाहता है कि उस को इस जीवन में कोई दुःख न हो, और यदि दूसरा जन्म मिलने वाला है, तो उसमें भी वह सुखी हो रहे। सारी दुनिया सुख और शान्ति की खोज में दुःखित और अशान्त हो रही है, परन्तु सुख-प्राप्ति के जितने अधिक यत्न होते हैं, दुनिया उतनी अधिक दुःखी होती चली जा रही है। जब पूरे यत्न, पूरी बुद्धिमत्ता से किसी रोग का इलाज हो रहा हो, और वह रोग कम होने की अपेक्षा बढ़ता चला जा रहा हो, तो यही कहना पड़ेगा कि इलाज ठीक नहीं हो रहा है। जब यह प्रत्यक्ष है कि आधुनिक काल की रोगी दुनिया को नाना आविष्कारों, नाना योजनाओं, नाना सम्मेलनों, नाना प्रयत्नों द्वारा भी नीरोग नहीं बनाया जा सका तो सर्वसाधारण यही कहेंगे कि ये सारे यत्न सर्वथा उलटे परिणाम उत्पन्न करने वाले हैं। ऐसा कहना सर्वथा इतिहास को झुठलाना है कि 'जितनी भौतिक उन्नति आज दुनिया के लोगों ने की है, पहले इतनी कभी नहीं हुई थी।' भारतीय इतिहास इस सत्य का साक्षी है कि प्राचीन काल में जितने सुन्दर आविष्कार हो चुके हैं, उनका १/१०० भाग भी आज दुनिया को अभी प्राप्त नहीं हुआ; परन्तु प्राचीन काल में जितनी भौतिक उन्नति हुई उसका प्रयोग केवल मानव-शरीर को सुखी बनाने या नाश करने के लिए नहीं हुआ, अपितु आत्मा और ज्ञान के लिए हुआ, इसीलिए प्राचीन काल की भौतिक उन्नति ने उन लोगों को दुःखी नहीं किया। पर आज की दुनिया के अविष्कारों ने मानव को अधिक दुःखी कर दिया है।

श्री मद्भगवद् गीता का मर्म

❀ श्री डा० यतीन्द्रनाथ शर्मा

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय वाङ्मय की एक अमूल्य निधि है। इसका मर्म जानने के लिये इसकी उल्लेख्य विषय सामग्री तथा उन परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक होगा जिनसे प्रेरित होकर अर्जुन एवं भगवान श्रीकृष्ण के सम्वाद के रूप में यह अवतरित हुयी। कुरुक्षेत्र के रणाङ्गण में युद्ध के लिये सन्नद्ध उभयपक्षीय सेनाओं में अपने सगे-सम्बन्धियों, गुरुजनों व परिवारजनों को देख कर तथा उनकी सन्निकट संभावित मृत्यु की कल्पना कर अर्जुन को जो मोह हुआ तथा उसी से उसने जो युद्ध न करने का निर्णय लिया उसी के फलस्वरूप अर्जुन को युद्ध हेतु प्रेरित करने के लिये उपदेश के रूप में भगवान श्रीकृष्ण को यह सम्वाद छेड़ना पड़ा।

मोहग्रस्त मनोदशा में युद्ध न करने के पक्ष में अर्जुन ने श्री भगवान कृष्ण के सम्मुख कुछ तर्क प्रस्तुत किये। अपने से पूर्ववर्ती नैतिक मान्यताओं के कारण उसके मन में द्वन्द्व की स्थिति बन गयी थी और उसे अब युद्ध करना उचित नहीं लग रहा था। जिस राज्य को जीतने के लिये उसे युद्ध लड़ना था उस पर वास्तव में उसका न्याय पूर्ण अधिकार था। इसके लिये उसे जो नर-संहार करना था वह न्याय की प्रतिष्ठा के लिये आवश्यक था। लेकिन वह जानता था कि यह न्याय की ओर रक्तरंजित रास्ता ऐसा होगा जिस में शोकाकुल हृदयों की कराहें, नरसंहार, समाज की भयंकर हानि तथा शान्ति का विनाश भरा हुआ होगा। इस कल्पना से अर्जुन के हाथ पैर ढीले पड़ गये और वह अपने क्षत्रिय धर्म के कर्त्तव्यों को सम्पन्न करने से पीछे हटने को तैयार हो गया। यदि उसे युद्ध ही लड़ना था तो उसके मन के समाधान हेतु एक नवीन महत्तर व कल्पनातीत विधान की आवश्यकता थी। भगवान श्रीकृष्ण ने यही विधान व समाधान गीतोपदेश के माध्यम से अर्जुन के सम्मुख रक्खा और अन्त में युद्ध करने की सलाह दी।

गीता के माध्यम से भगवान श्रीकृष्ण का मुख्य लक्ष्य मोक्ष का मार्ग प्रस्तुत करना नहीं था जैसे कि बहुत से लोग समझते हैं बल्कि इस के माध्यम से वह जागतिक कर्मों के लिये एक नया स्रोत व स्तर प्रतिपादित करते हैं जिस में मोक्ष के लिये प्रयत्नशील व्यक्ति के जीवन में कार्य की संगति बैठायी जा सके और मुक्तावस्था अर्थात् आध्यात्मिक स्वातंत्र्य प्राप्त व्यक्ति के जीवन में जागतिक कर्म सध सकें।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण के उपदेश का सारांश कुछ इस प्रकार है, 'युद्ध के रूप में जो यह भयंकर संकट आ गया है वह किसी व्यक्ति के विचार, अहंकार, स्वार्थ व भावावेग का

परिणाम नहीं है। यह सब तो उस भगवत इच्छा की प्रेरणा से है जो इन सब के पीछे कार्य कर रही है। अर्जुन को चाहिए कि वह उन्हीं सनातन भगवत दिव्य पुरुष की आत्मा की नीरवता में स्थिर, प्रशान्त व अनासक्त होकर निवास करे। वह अपने अन्तरस्थ परम पुरुष भगवान के साथ एक मय होकर शक्तिशाली इससे जगतव्यापी सनातन की इच्छाओं को सम्पन्न करने के लिये उस महान कर्म को करे जो उसके सामने उपस्थित हो गया है। अर्जुन तो उस विराट, ज्योतिर्मुक्त सर्वज्ञ व दिव्य संकल्प का यंत्र मात्र है। इस लिये वह उस कार्य को अचल-अटल भाव के साथ उस यंत्र के रूप में ही सम्पादित करे न कि अपनी क्षुद्र कामनाओं व दुर्बल मानवीय जुगुप्सा का वाहन बन कर।" युद्ध कार्य तो अर्जुन के समक्ष उपस्थित है लेकिन किस मनोदशा से युक्त होकर वह उसे पूरा करे उस मनोदशा को अर्जुन किसप्रकार प्राप्त करे। इसी मनोदशा को बताने केलिये दिव्य और परम सन्देश है तथा इसी सन्देश के कारण गीता की अपनी इतनी ख्याति है।

भगवान श्रीकृष्ण कहते है कि उपर्युक्त दिव्य कर्म मनुष्य के द्वारा तब तक नहीं हो सकता जब तक कि वह अपने अहंकार के द्वारा नियंत्रित रहता है। इसका उपाय यह है कि वह अपने विक्षुब्ध व्यक्तित्व से पीछे हट कर नित्य विराट व स्थिर आत्मा में प्रवेश करे। जब वह अपने आत्मा में शान्त भाव से स्थित हो जायेगा तब उसका क्षुद्र व विकृत अहंभाव भी आत्मा की बृहत्ता में विलीन हो जायेगा। उसे तब यह स्पष्ट दिखायी देने लगेगा कि उसकी बुद्धि, प्रज्ञा, मन, प्राण, इन्द्रियां व शरीर जिन्हें उसने अभी तक अपना माना है प्रकृति के ही करणोपकरण हैं, उसी की रचनायें है। जगत के सम्पूर्ण कर्म प्रकृति और उसके तीन गुण ही करते है। वह स्वयं कुछ नहीं करता। उसकी आत्मा प्रकृति का भाग नहीं होती इसलिये वह कुछ करेगा ही क्यों। वह तो मुक्त, ज्ञाता व निर्विकार साक्षी बना रहता है। इस प्रकार की अनुभूति को ही आत्मज्ञान कहते है। इस मनोदशा को प्राप्त करने वाला व्यक्ति प्रकृति के कार्यों से प्रभावित नहीं होता। हर्ष, शोक, कामना, घृणा, राग, द्वेष, आदि उसे विचलित और उद्वेलित नहीं करते। उसे समता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। समता प्राप्त व्यक्ति कामना, आवेश, भावावेग तथा विक्षुब्धकारी परिस्थितियों के बोझ को अपनी आत्मा के कंधों से उतार चुका होता है। इस लिये वह कर्म करते हुये भी कर्म के प्रभाव से मुक्त अप्रभावित व निर्विकार बना रहता है। जगत की घटनाओं से अप्रभावित रहने वाली समता की मनोदशा प्राप्त करने के लिये

भगवान श्रीकृष्ण जो उपदेश देते हैं उसी के सन्दर्भ में आत्मा की अमरता शरीर की मरणशीलता व बारम्बार जन्म लेने के तत्वों की वह व्याख्या कर देते हैं। समता प्राप्ति हेतु गीता में साधना की पद्धति भी बतलायी गयी है। महायोगी पतञ्जलि के योग सूत्र प्रणीत साधना के कुछ अंश भी श्री भगवान के उपदेश में आ गये है। त्रिगुण की व्याख्या में सात्विक गुणों के अर्जन तथा फिर इस के संक्रमण करने को भी समता प्राप्त के लिये सहायक बताया गया है। इसी सन्दर्भ में सृष्टि रचना का रहस्य तथा उसके निर्माण-तत्वों का ज्ञान साधक को दे दिया गया है। यह सब गीता का ज्ञान काण्ड है जो समता की ओर ले जाने की साधना है।

इस स्थिति में इस खतरे की अवश्य संभावना रहती है कि जब व्यक्ति क्रियाशील प्रकृति से पीछे हटकर निश्चल आत्मा की नीरवता में निवास करने लगेगा तो उसमें निवृत्ति या निष्क्रियता की भावना आसकती है और इसके फलस्वरूप वह कर्म सम्पादन के प्रति उदासीन हो सकता है लेकिन श्री भगवान कृष्ण तो यह चाहते है कि मनुष्य कर्म तो अवश्य करे परन्तु कर्म के परिणाम से प्रभावित न हो। उसके बन्धन में न बंधे। यह कैसे हो सकता है? इसे सम्भव बनाने के लिये वह जो तर्क उपस्थित करते है उसी सन्दर्भ में दो पुरुष या एक परम पुरुष की दो अवस्थाओं या रूपों का वर्णन आता है। भगवान श्रीकृष्ण कहते है कि एक तो वह पुरुष है जो आत्मा के अन्दर गुप्त रूप से रहता है और वहीं से स्वयं स्थिति सत्ता से सभी वस्तुओं का निरीक्षण करता है। यह कूटस्थ और अपरिवर्तनशील है। इसे ही अक्षर और नित्य आत्मा कहते हैं। दूसरा वह है जो प्रकृति के अन्दर निक्षिप्त रहता है और प्रकृति की कर्मण्यताओं और रचनाओं के साथ अपने को तदाकार कर लेता है। यह नश्वर परिवर्तनशील व अनित्य है। इसे क्षर प्रकृति भी कहते हैं। इन दोनों से भिन्न एक और सर्वोत्तम आत्मा है। यह क्षर प्रकृति से परे तथा अक्षर आत्मा से श्रेष्ठ है। यह इन दोनों के समुच्चय से भी महत्तर है। सृष्टि का सम्पूर्ण जड़ चेतन इन्हीं परम पुरुष की सत्ता से अंश भूत है। इसे परात्पर पुरुष, ब्रह्म या पुरुषोत्तम कहते हैं। यह पुरुषोत्तम प्रकृति भी है तथा हमारी अंशभूत आत्म सत्ता भी। परम पुरुष ही प्रकृति के द्वारा सब प्राणियों को धारण करते हैं। वही उनकी असंख्य सत्ताओं का सृजन, प्रेरणा व नियंत्रण करते हैं। वही पुरुषोत्तम सब कुछ है वासुदेव है।

परम पुरुष की पहचान हो जाने के पश्चात् जगत के प्रति यह धारणा नहीं रह जाती है कि प्रकृति केवल यंत्रवत चलने वाला गुणों

का व्यापार मात्र है। अब प्रकृति हमारे लिये अव्याख्येय माया नहीं रह जाती बल्कि वह सनातन पुरुषोत्तम की शक्ति व क्रीड़ा बन जाती है। लेकिन यह प्रकृति फिर भी पुरुषोत्तम की शक्ति की निम्नतर स्वतः स्थिति सीमित किया ही रहती है। इस में आत्मा तथा परमात्मा का रहस्य छिपा रहता है। इस लिये प्रकृति को अज्ञानमयी माना जाता है। जब प्रकृति स्थित जीव (मनुष्य) आत्मा की ओर मुड़कर अन्तर्मुख होकर अपने गुप्त आराध्य देव को ढूंढने के लिये प्रयत्नशील हो जाता है तब वह अपनी अन्तर्निहित ऊँचाइयों व गहराइयों में आत्मा के सत्य को जानने में सफल होता है। उस समय उसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि प्रकृति के ईश्वर, ही विश्व के एक और वह आत्मा बने हुये है। वही अपनी लौकिक अभिव्यक्ति में सब प्रकार के वस्तु, चेतना, देवता, जीव, पदार्थ तथा मनुष्य बने हुये हैं। और इतना होने पर भी वह अक्षर आत्मा बने रहते हैं। वह पुरुषोत्तम सभी प्राणियों में है और प्रकृति में भी हैं। वह प्रत्येक के हृदय में विराजते हैं और वहाँ से उस महान प्रकृति के यंत्र का परिचालन करते हैं। यह दृष्टि हमें अपने अन्दर छिपी हुयी परम सत्ता में और फिर परम पुरुषोत्तम में खोल देती है जिससे वह हमें सर्वत्र दिखायी देने लगते हैं। यही दृष्टि बनाना गीता का परम उद्देश्य है। यही परम पुरुष भगवान से ऐक्य स्थापना की सर्वोच्च स्थिति है। यही ज्ञान और प्रेम का समन्वय है।

इस दृष्टि को प्राप्त मनुष्य की कर्म के प्रति क्या दृष्टि होनी चाहिये। वह कर्मों की परिधि में तो लगातार चलेगा लेकिन कोल्हू के बैल की भांति नहीं बल्कि कर्मों के केन्द्र श्रीभगवान के नाम के साथ और उन्हीं के प्रति सभी कर्मों के समर्पण की भावना ले कर। यहीं श्री भगवान कृष्ण कर्म के विख्यात सिद्धान्त की व्याख्या करते हैं। कर्म प्रकृति प्रेरित और अनिवार्य है। कोई भी मनुष्य निष्क्रिय नहीं रह सकता। यदि वह कर्म क्षेत्र से पलायन भी करता है तब भी उस का स्वभाव उस से कर्म करवा ही लेता है। इस लिये कर्म-त्याग की बात उचित नहीं है। कर्म संपादन की गीता की एक विशेष दृष्टि और एक विशेष पद्धति है जिसका अनुगमन करने का वह आदेश देती है। यही विशेष दृष्टि और पद्धति कर्मयोग का सार है। श्री भगवान कृष्ण कहते हैं कि प्रकृति के सम्पूर्ण कर्म भी प्रकृति की शक्तियों की क्रिया के रूप में अभिव्यक्त होते रहते हैं। इस लिये ज्ञानी पुरुष के कर्म भी विश्वात्मा व विश्वमंगल के लिये होते हैं अपने किसी निजी सुख और स्वार्थ के लिये नहीं। अतः मनुष्य को चाहिये

कि वह बिना कर्मफल की आशा किये बिना निम्नतर कामनाओं की पूर्ति में आसक्त हुये अपने सम्पूर्ण कर्म सनातन परमात्मा को अर्पण करने की भावना से सम्पन्न करे। स्वाभाविक कर्मों को परमात्मा की पूजा के रूप में करने पर मनुष्य को पूर्णता प्राप्त होती है। कर्मफल की आशा और कर्मों के प्रति आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

कर्म सिद्धान्त के द्वितीय चरण में श्री भगवान का कहना है कि मनुष्य जो कर्म करे वह अपने अन्दर स्थित भगवान को समर्पण की भावना से करे। मुक्त व दिव्य कर्म तो वही हैं जो अपनी सत्ता के स्वामी के प्रति निवेदित किया जावे। जिस प्रभु की प्रेरणा से प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं तथा जिनमें प्रभु निवास करते हैं उन परमात्मा की पूजा के रूप में अपने कर्त्तव्य का पालन करने वाला व्यक्ति पूर्णता की स्थिति में पहुँच सकता है।

भगवद् गीता का मन्तव्य है कि ज्ञानयुक्त मन से परम प्रभु को समर्पण की भावना से जो मनुष्य कर्त्तव्य कर्म करता है उसे कर्म बन्धन में नहीं डालते। अर्जुन को भगवान श्रीकृष्ण की सलाह है कि वह भी इसी तरह कर्म करे। उसके लिये उनका आदेश है कि वह अपने सम्पूर्ण कर्म सनातन परम प्रभु को समर्पित करे। अपनी सम्पूर्ण चेतना को अपनी आत्मा में स्थित रखते और कामना व अहम् भावना से मुक्त रह कर युद्ध करे। इस प्रकार किये गये युद्ध का न तो उसे पाप लगेगा और न वह उसके परिणाम से प्रभावित होगा।

गीता दिव्य कर्म की प्रेरणा देकर ज्ञान, कर्म व प्रेम का समन्वय करती है ऐसे कर्म सम्पादन से प्रतिस्थ कर्म का चक्र भी निरन्तर गतिमान रहता है तथा कर्त्ता की मुक्ति भी सम्भव है यही गीता का अमर सन्देश है।

❀ आचार्य ने कहा ❀

आचार्य ने कहा—"हे शिष्य ! यदि तू समझता है कि मैंने ब्रह्म का रूप भली प्रकार से जान लिया है, तो निःसन्देह थोड़ा ही तूने जाना है। यदि सूर्यादि दिव्य शक्तियों को देखकर, ब्रह्म को विचार योग्य मानते हो, तो मैं समझता हूँ कि तूने सब कुछ जान लिया। देश काल की सीमा से ब्रह्म परे है, उसका पूरा जानना असम्भव है।

× × × × ×

गुरु के प्रश्न के अनन्तर शिष्य ने कहा—भगवन् ! मैंने ब्रह्म के स्वरूप को अभी पूर्णरूप से नहीं जाना। सूर्यादि देवों को देखकर यह भी नहीं मानता कि मैं कुछ नहीं जानता। हममें से यदि कोई अभिमान-वश यह समझता है कि मैंने उसे पूरा जान लिया है, तो वह भूल में है। जो यह समझता कि मैं उसे पूरा नहीं समझ पाया, वास्तव में उसने ही कुछ समझा है।

—केन उपनिषद्

卐 मन मतंग माने नहीं 卐

❀ श्रीमती सरिता भारद्वाज एम० ए०

अनन्त, सर्व शक्ति युक्त महान आत्मा के संकल्प-शक्ति द्वारा रचे गए रूप का नाम ही मन है। देखने में यह जितना ही सरल प्रतीत होता है उतना ही इसे समझ पाना कठिन है। इसके वास्तविक रूप को तो वही समझ सकता है जिसने प्रभु-स्मरण से अपने विषय-वासना रूपी मल को दूर हटा दिया है। वास्तव में इसकी दशा तो एक हाथी के समान है जो स्वयं ही अपने ऊपर धूल डाल कर मैला हो जाता है। बार-बार वह अपने को स्वच्छ रखने के लिये सरोवर में स्नान करने जाता है परन्तु पुनः अपने शरीर पर रज (धूल) डाल लेता है। ठीक उसी प्रकार मन पाप-कर्मों में लगकर मलिन हो गया है। जब तक इसके कालुष्य को प्रभु के स्मरण, उनके गुणानुवाद तथा जप,तप, ध्यान आदि क्रियाओं से धोया नहीं जाएगा तब तक मनुष्य इसके वास्तविक रूप को नहीं समझ सकेगा।

योगी सन्त श्री रज्जब ने कहा है—

मन माया त्यागै गहै,
लिपट छूटि नहिं जाय।
जन रज्जब पशु की विरति,
उगलि-उगलि अरु खाय॥

अर्थात् जैसे पशु का स्वभाव है कि वह अपने खाद्य पदार्थ को बारम्बार उगल-उगल कर पुनः खाता है वैसे ही इस मन की भी यही आदत है। वह बार-बार माया को त्यागता है और पुनः उसे ग्रहण कर लेता है। मन की प्रीति माया से पूर्णतया नहीं छूटती। माया अपनी चुम्बकीय शक्ति से बार-बार मन को अपनी ओर खींच लेती है। वह चाहते हुए भी अपने को माया से अलग नहीं कर पाता। पुरानी दोस्ती एक दम कैसे टूट सकती है? माया के साथ अनेक जन्मों से मन रहता आया है। माया ने मन को इतना सिखा पढ़ा दिया है कि वह उसकी बात को फौरन सुन लेता है। दूसरे की बात सुनना भी नहीं चाहता। माया उसे काम, क्रोध, लोभ, मोह का अलंकार पहना कर सजाती सम्भालती रहती है। इसके साथ हिलते-मिलते वह इतना रम गया है कि दण्ड देने पर भी इसका साथ छोड़ना नहीं चाहता। थोड़ी बहुत देर समझाने-बुझाने से भले ही मान जाय। मौका पाते ही अपनी चाल चलने लगता है। तीर्थ, व्रत, दान, तप, यज्ञ, परोपकार, आसन, बन्ध, मुद्रा तथा जप आदि सारे कार्य मन को समझाने के लिए हैं कि माया के चक्कर को छोड़कर अपने अधिष्ठान आत्मा का हो जा। पर मन कहाँ मानता है? 'मन मतंग माने नहीं'। उपदेशों का प्रभाव उस पर विपरीत होता है। बन्दर

को चिड़ियों ने उपदेश दिया था कि ठण्ड और वर्षा में क्यों मरते हो ? बन्दर पर चिड़ियों के उपदेश से यह प्रतिक्रिया हुई कि उसने चिड़ियों का घोंसला नोंचकर उन्हें भी बेघरबार कर दिया। मन भी यही कार्य करता है। शास्त्रों के उपदेश, गुरु के उपदेश, बड़ों की सीख सन्तों की सलाह उसे उत्तेजित कर देती है। वह शास्त्र, सन्त और गुरु में ही दोषारोपण करने लगता है। उन्हें कलंकित करने लगता है। उनके उपदेशों की विकृत व्याख्या प्रस्तुत कर उन पर हावी हो जाता है। अधिकांश लोग ऐसे गुरु की तलाश में रहते हैं जो उनके मन के मुताबिक खान-पान तथा आचरण बता दे। उसका ज्ञान और ध्यान उन लोगों के मन के मुताबिक हो। जिनसे उनके मन की होती रहती है वे अच्छे गुरु कहे जाते हैं। लोग गुरु पर भी अपने मन को हावी रखना चाहते हैं। अपने मन को गुरुदेव के नियंत्रण में रखना उन्हें कम पसन्द आता है। इसी मनोवृत्ति के परिणाम स्वरूप मन पसन्द बातें बताकर अपना सिक्का जमाने वाले गुरुओं का आजकल बहुत बोलबाला है। लोगों का मन चाहता है, माया की गुलामी में रहना। मांस, मदिरा, झूठ, पाखण्ड, ऐशो आराम—सबका सेवन करते रहें और धर्म के तत्व की प्राप्ति भी हो जाय ? संयम नियम के बिना ही मुक्त यौनाचार तथा मन के गुलाम रहते हुए योग ध्यान समाधि दिलाने वाले तथाकथित गुरुओं की आजकल विदेशों में बहुत पौबारह है। वे लोगों को रास आते हैं क्योंकि वे लोगों के मन के मुताबिक व्यवहार करने, खान-पान की उन्हें खुली छूट दे देते हैं। कोई नियंत्रण नहीं। स्वच्छन्दाचार से मन का चाहा होता रहता है। हम गुरुओं की तलाश में निकलते हैं तो मन की तलाश से भिन्न कोई दूसरी तलाश नहीं होती। भले ही हम कहें कि गुरु की तलाश में हैं। गुरु खोजने से नहीं मिला करते। वे मिल जाते हैं यदि साधक अपने मन की न करे। मन के बहकाने और छलने से बचा रहे तो गुरु ऐसे साधक को स्वयं ढूंढ लिया करते हैं या साधक स्वयं खिंचा हुआ उनके पास तक चला जाता है।

मन को खुली छूट देने से समाज और व्यक्ति का जीवन दूभर हो जायगा। मन काम क्रोध लोभ मोह को अधिक से अधिक चाहेगा। परिणाम होगा विनाश। यदि हम अपने मन की करने लगें तो क्या हाल होगा हमारा। किसी ने गाली दी। हमें क्रोध आया और मन ने कहा—गाली देने वाले का सिर धड़ से अलग कर दो। आपने ऐसा ही कर दिया। थोड़े से असंयम का परिणाम यह हुआ कि दूसरे व्यक्ति का जीवन नष्ट हो गया और आपको भी फांसी के फन्दे पर झूलना पड़ेगा।

यदि उस समय क्रोध को बुद्धि के अंकुश से नियंत्रित कर लिया जाता तो महान अनर्थ न होता। यही हाल काम, लोभ, मोह आदि विकारों का है। पशु-पक्षी अपने मन तथा स्वभाव के अधीन होकर कार्य करते हैं। इसका परिणाम यह है कि वे सौ साल पहले जैसे रहते थे, जो खाते थे, जैसा उनका स्वभाव था और जैसा उनका जीवन था वैसे ही वे आज भी हैं और सौ साल बाद भी रहेंगे। किन्तु मनुष्य ने कला, संस्कृति साहित्य, विज्ञान तथा अध्यात्म में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। प्रकृति के सारे रहस्यों को समझकर प्रकृति पर अधिकार प्राप्त कर लिया है। वस्तुओं के संश्लेषण-विश्लेषण के विज्ञान को जानकर अनेकों आविष्कार कर डाले हैं। यह सब अपने मन को चारों ओर से नियंत्रित कर एकाग्र होकर चिन्तन मनन निदिध्यासन करने के परिणामस्वरूप हुआ है। मन का रूपान्तरण एवं मन की पाशविक वृत्तियों का परिशोधन मनुष्य को मनुष्य से देवता तथा नर से नारायण बना देता है। अपनी मन मर्जी करने वाला मृत्यु का शिकार बनता है। रोगी यदि परहेज न करे और मन मर्जी की चीजें खाता रहे तो रोग कभी ठीक नहीं होता। इसी प्रकार मन माया से हटे बिना शान्त नहीं हो सकता। यदि ऐसा न होता तो जिसके पास अधिक पैसा है, भोग की सामग्री है वह सबसे अधिक आनन्दित और शान्त होता। परन्तु प्रत्यक्ष में बात इसके भिन्न दिखाई पड़ती है। जिसका मन जितना अधिक माया में लिप्त है वह उतना ही अधिक दुःखी दिखाई दे रहा है।

मन ने पदार्थों और व्यक्तियों से आसक्ति की। इच्छा ने संस्कार चक्र को जन्म दे दिया। सुख-दुःख और आवागमन का चक्र सतत चलने लगा। अपने जाल में मन खुद फँस गया। सन्तजन इसीलिए सलाह देते हैं कि अपने मन पर कभी भरोसा मत करो। यदि मन पर विश्वास कर लिया तो दुःख ही दुःख हाथ लगेगा। अपने मन की नित्य जाँच पड़ताल करनी चाहिए। जाग्रत में यदि उसे भजन में लगाये रखा तो स्वप्न में भागकर गन्दी मक्खी की तरह मलमूत्र के पुतलों में आसक्त हो जायगा। मन जिस वस्तु से लगता है उस पर उसी का रंग चढ़ने लगता है। क्योंकि मन का अपना कोई रङ्ग नहीं है। मृत्यु के समय शरीर मरता है किन्तु मन अपने घर रूपी शरीर को जलता हुआ देखकर पास खड़ा होता है। उसकी मुहब्बत भी झूठी और उसकी दुश्मनी भी झूठी। क्षण-क्षण में यह गिरगिट की तरह रंग बदलता रहता है। यह किसी का अपना सगा नहीं हुआ। जिस शरीर और बुद्धि ने उसके लिए न जाने क्या नहीं किया उसकी दशा देखकर वह तुरन्त चला जाता है और उसके शुभाशुभ कर्मों की

रिपोर्ट देकर उस जीव को नाना प्रकार की योनियों में भटकता रहता है। जो मुनि लोग वर्षों अपने मन से जूझते रहते हैं। उसको वश में करने के लिए तरह-तरह के वेश धारण करते हैं तपस्या, व्रत करते हैं और घरबार छोड़कर जंगल में आंधी-बरसात भूख प्यास सहते हैं उन्हें भी अन्त समय में यह धोखा दे जाता है।

जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं।
अन्त राम कहि आवत नाहीं॥

मन इन्द्रियों को आगे कर विषयों का संयोग करता है। वह पकड़ में नहीं आता। उसकी गति सूर्य चन्द्र, ग्रह नक्षत्र तारों से भी तेज है। शब्द की गति से भी वह तेज चलता है। क्षण में अरबों-खरबों मील दूर चला जाता है। मन प्रायः आंख की खिड़की से निकल कर बाहर भागता है। आंख जिधर टिकती है, मन भी वहीं टिक जाता है। आंख ने कोई सुन्दर रूप देखा, मन वहीं चला गया और सुन्दर रूप में फँस गया। मन की मांग बहुत बड़ी है। इसीलिए छोटी मोटी वस्तु से उसकी तृप्ति नहीं होती। उसकी चञ्चलता का कारण यही है कि वह भूखा है। कहीं उसकी तृप्ति नहीं हो पाती। भ्रमर की तरह एक फूल से दूसरे फूल पर मन भटकता रहता है। वह रूप राशि को पाकर रुकता है। नारायण श्रीकृष्ण को यदि एक बार देख ले तो उसकी चञ्चलता समाप्त हो जाती है। उनमें अटक कर जमा रहता है। श्रीकृष्ण या रूपराशि के चिन्तन में यह मनरूपी भ्रमर जब तक लीन नहीं होगा तब तक इसकी चञ्चलता नष्ट नहीं होगी। न इसकी प्यास बुझती। माया के साथ रहने से यह कभी तृप्ति का अनुभव नहीं कर सका। जितनी भी ज्ञानेन्द्रियां हैं वे मन की खिड़कियां हैं। मन इन्हीं के द्वारा बाह्य विषयों में आसक्त होता है। यदि सभी इन्द्रियां एक विषयक बना दी जांय तो मन एकाग्र होकर साधक का पुत्र बन जाता है। एक विषयकता का नाम ही एकाग्रता तथा ध्यान एवं समाधि है। यही योग है। सन्त तुलसी कहते हैं कि:—

काया कसो कि वन बसो
कि दृढ़ राखो मौन।
तुलसी मन जीते बिना
छूटे न आवागौन॥

मन को खुली छूट देने से काम नहीं चलेगा। मन तो मतवाले हाथी की तरह है उसे नियन्त्रित करने के लिए प्रभु कृपा इष्ट कृपा, गुरु कृपा या आत्म कृपा का अंकुश चाहिए। बिना अंकुश के वह वश में होने का नहीं। जब तक वह स्वतन्त्र रहेगा वह उत्पात करता रहेगा। कृपा का अंकुश मिलने पर यह मन जन्म-मरण का कारण नहीं बनेगा। मन बुद्धि के नियन्त्रण में आ जायगा और बुद्धि आत्मा के प्रकाश से आलोकित हो उठेगी।

हंस मन्त्र अथवा अजपा गायत्री

श्री पूर्णानन्द पन्त शास्त्री

योग साधना में हंस मन्त्र का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। शास्त्रों में इसे हंसविद्या, हंसयोग, प्राणविद्या, अजपागायत्री आदि नामों से वर्णित किया गया है। योगचूड़ामणि उपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, ब्रह्मविद्योपनिषद्, त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, हंसोपनिषद् आदि सभी उपनिषदों में इस महामन्त्र की महिमा मुक्त कण्ठ से गाई गई है। हंस मन्त्र आत्मा का वाचक है। अतः इसे आत्म-मन्त्र भी कहा जाता है। जीव स्वाभाविक रूप से इस मन्त्र का अहर्निश जप करता रहता है। वह चौबीस घण्टे में (दिन रात में) २१६०० श्वास लेता है और इतना ही वह इस मन्त्र का जप करता है। वह श्वास छोड़ते समय 'हं' ध्वनि करता है और श्वास लेते समय 'सः' ध्वनि करता है। इस प्रकार जीव द्वारा हंसः, हंसः यह जप बिना प्रयास के स्वतः ही होता रहता है। अतः इसे अजपा जप अथवा अजपा-गायत्री कहा गया है।

हंस हंस वदेद् वाक्यं
प्राणिनां देहमाश्रितः।
स प्राणापानयोर्ग्रन्थिर-
जपेत्यभिधीयते ॥
(ब्रह्मविद्योपनिषद्)

सब प्राणधारियों का आश्रय लेकर प्राण हंस, हंस वाक्य बोलता है। उस प्राण और अपान की ग्रन्थि को अजपागायत्री कहते हैं।

यह अजपा गायत्री ही जीव के मोक्ष का साधन है। जीव जब तक इस हंस मन्त्र के रहस्य को नहीं जानता तब तक वह प्राण और अपान के वश में हुआ बन्धन में रहता है और जब गुरूपदेश से साधक हंसयोग की साधना आरम्भ कर देता है तो यही मन्त्र उसके मोक्ष का हेतु बन जाता है।

हकारेण बहिर्याति
सकारेण विशेत्पुनः।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं
जीवो जपति सर्वदा ॥
शतानि षड् दिवारात्रं
सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं
जीवो जपति सर्वदा ॥
अजपा नाम गायत्री
योगिनां मोक्षदा सदा।
अस्याः संकल्पमात्रेण
नरः पापैः प्रमुच्यते ॥
अनया सदृशी विद्या
अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं पुण्यं न
भूतं न भविष्यति ॥
(ध्यानबिन्दूपनिषद्)

शरीर में स्थित प्राण हकार ध्वनि करता हुआ बाहर आता है और सकार ध्वनि करता हुआ भीतर प्रवेश करता है। इस प्रकार जीव सदा हंस, हंस इस मन्त्र का जप करता रहता है। वह एक दिन-रात में २१६०० मन्त्र का जप करता है। इस जप को अजपा गायत्री कहते हैं। यह योगियों के लिये मोक्षदायिनी है। इसके संकल्प मात्र से ही मनुष्य सब पापों से छूट जाता है। इसके समान कोई विद्या नहीं है, इसके समान कोई जप नहीं है, इसके समान कोई पुण्य भी न हुआ है और न होगा ही।

ब्रह्मविद्योपनिषद् में हंस मन्त्र की महिमा बताते हुये कहा गया है:—

प्राणिनां देहमध्ये तु
स्थितो हंसः सदाऽच्युतः।
हंस एव परं सत्यं हंस
एव तु शक्तिकम् ॥
हंस एव परं वाक्यं
हंस एव तु वैदिकम्।
हंस एव परो रुद्रो
हंस एव परात्परम् ॥
सर्वदेवस्य मध्यस्थो
हंस एव महेश्वरः।
पृथिव्यादि शिवान्तं तु
अकाराद्याश्च वर्णकाः ॥
कूटान्ता हंस एव
स्यान्मातृकेति व्यवस्थिताः।
मातृका रहितं मन्त्र-
मादिश्यन्ते न कुत्रचित् ॥

प्राणियों की देह के मध्य में अच्युत रूप हंस सर्वदा स्थित रहता है। हंस ही परं सत्य है, हंस ही शक्ति स्वरूप है, हंस ही महान् वाक्य है, हंस ही परब्रह्म परमात्मा है, सब देवताओं के मध्य में हंस ही महेश्वर है। पृथ्वी जल आदि से लेकर शिव पर्यन्त छत्तीस तत्व और अ से लेकर क्ष तक वर्ण तथा कूटस्थ वर्ण हंस ही है। इन सब वर्णों में मातृका रूप से हंस ही स्थित है। कहीं भी मातृका रहित मन्त्र का उपदेश नहीं किया जाता। अतः सभी वर्ण हंस रूप ही हैं।

इस प्रकार यह हंस मन्त्र सभी मन्त्रों का राजा है। सभी प्रकार की सिद्धियों का मूल, योग का आधार, भोग का प्रदाता तथा मोक्ष का साधन यही मन्त्रराज है। योगशिखोपनिषद् में इसे हंस महायोग कहा गया है तथा मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग ये चारों इसी महायोग के अङ्ग बताये गये हैं। जैसे:—

मंत्रो लयो हठो राजयोगो-
ऽन्तर्भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं
महायोगोऽभिधीयते ॥
हकारेण बहिर्याति
सकारेण विशेत्पुनः।

हंस हंसेति मन्त्रोऽयं
सर्वैः जीवैश्च जप्यते ॥
गुरुवाक्यात् सुषुम्नायां
विपरीतो भवेज्जपः ।
सोऽहं सोऽहमिति प्रोक्तो
मन्त्रयोगः स उच्यते ॥

मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग ये चारों एक हुए महायोग की ही अन्तर्भूमिकायें हैं। इन चारों से युक्त होने के कारण ही यह महायोग कहलाता है।

श्वास हकार ध्वनि करता हुआ बाहर जाता है और सकार की ध्वनि करता हुआ फिर भीतर प्रवेश करता है। इस प्रकार हंस, हंस यह मन्त्र सब जीवों द्वारा स्वाभाविक जपा जाता है।

गुरूपदेश से यही मन्त्र सुषुम्ना में उलट जाता है। अर्थात् जीव जो अब तक इड़ा-पिंगला नाड़ियों द्वारा हो रही श्वास-प्रक्रिया में हंसः, हंसः ध्वनि का उच्चारण कर रहा था वही अब गुरु कृपा से सुषुम्ना मार्ग खुल जाने तथा सुषुम्ना नाड़ी में प्राणों का संचार हो जाने से सोऽहं, सोऽहं जपना शुरू कर देता है। इस प्रकार हंस मन्त्र 'सोऽहं' में परिवर्तित हो जाता है। यह मन्त्रयोग कहलाता है। हंसयोग की इस भूमिका को योगदर्शन में अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है। यहीं से योगी के लिये मोक्ष का मार्ग खुलता है।

जीव प्राण और अपान के वशीभूत होकर इड़ा-पिंगला मार्गों से प्रतिक्षण ऊपर-नीचे दौड़ता रहता है। यह स्पष्ट करते हुये योगचूड़ामणि उपनिषद् में कहा गया है—

आक्षिप्तो भुजदण्डेन
यथोच्चलति कन्दुकः ।
प्राणापान समाक्षिप्तस्तथा
जीवो न तिष्ठति ॥
रज्जुबद्धो यथा श्येनो
गतोऽप्याकृष्यते पुनः ।
गुणबद्धस्तथा जीवः
प्राणापानेन कर्षति ।
प्राणापानवशो जीवो
ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति ।
अपानः कर्षति प्राणं
प्राणोऽपानं च कर्षति ॥
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ यो
जानाति स योगवित् ।

जिस प्रकार हाथ से फेंकी हुई गेंद ऊपर नीचे उछलती रहती है उसी प्रकार जीव भी प्राण और अपान वायु के वेग से सदैव चञ्चल बना रहता है, वह स्थिर नहीं हो पाता। प्राणापान के वशीभूत जीव कभी ऊपर को दौड़ता है और कभी नीचे को। इड़ा और पिंगला नाड़ियों से वह ऊपर नीचे आता जाता रहता है किन्तु गति में तेजी के कारण वह दिखाई नहीं देता। जिस प्रकार रस्सी से

बँधा बाज पक्षी रस्सी की लम्बाई जितनी दूरी तक उड़ता है और फिर उसे खींच लिया जाता है, उसे पुनः छोड़ दिया जाता है और फिर खींच लिया जाता है। इसी प्रकार त्रिगुणों से बँधा हुआ जीव भी ऊपर-नीचे भटकता रहता है। इसके ऊपर-नीचे जाने के रहस्य को जो जान लेता है वही योगवेत्ता है।

शिखिब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है कि शरीर के मध्य में स्थित कन्द स्थान का मध्यस्थ भाग नाभि कहा जाता है। उस नाभि में बारह अरों वाला एक चक्र है। उस चक्र को परमेश्वर अपनी माया द्वारा फिराते रहते हैं। इन बारह अरों में जीव विवश होकर इस प्रकार घूमता रहता है, जैसे मकड़ी अपने जाले में फँसी हुई उसी के अन्दर घूमती रहती है।

ध्यानबिन्दूपनिषद् में यह महाचक्र नाभिमण्डल में बताया गया है। जैसे:—

तन्नाभि मण्डलम् चक्रम्
प्रोच्यते मणिपूरकम्।
द्वादशारे महाचक्रे
पुण्यपापनियन्त्रितः॥
तावज्जीवो भ्रमत्येव
यावत्तत्वं न विन्दति।

नाभिमण्डल में जो चक्र है वह मणिपूरक कहलाता है। उसी स्थान पर बारह अरों वाला एक महाचक्र है, उसमें पुण्य-पाप से प्रेरित हुआ जीव तब तक घूमता रहता है जब तक उसे तत्वज्ञान नहीं हो जाता।

इस सिद्धान्त के अनुसार जीवन का आधार प्राण है और प्राणों द्वारा स्वाभाविक ही हंस मन्त्र का जप होता रहता है। किन्तु सांसारिक मनुष्यों को इसका अनुभव नहीं हो पाता। अतः वे परम कल्याण के भागी नहीं बन पाते।

हंस मन्त्र (अजपा गायत्री) की साधना में साधक को विशेष श्रम नहीं करना पड़ता। उसे सावधानी पूर्वक श्वासों की गति को देखना होता है और प्रत्येक श्वास-निश्वास में हंसः, हंसः यह मानसिक जप करना पड़ता है। साधक को स्वास्तिक, पद्म या सिद्धासन पर बैठकर मेरुदण्ड को सीधा रखते हुये श्वासों की गति के साथ-साथ मन्त्र का जप करना चाहिये। यदि अधिक समय न बैठा जा सके तो पीठ के बल सीधा लेटकर भी जप किया जा सकता है। चलते फिरते भी इस मन्त्र का मानसिक जप करते रहना चाहिये।

षट चक्रों की साधना में इस मन्त्र का विशेष महत्व है। कुण्डलिनी जागरण इसी मन्त्र पर निर्भर करता है। यहाँ पाठकों की जानकारी हेतु शरीर में स्थित षट्चक्र तथा कुण्डलिनी महाशक्ति का संक्षेप से परिचय दिया जा रहा है।

मानव शरीर में मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) के अन्दर छः सूक्ष्म शक्ति केन्द्र हैं। इन्हें चक्र

अथवा कमल कहा जाता है। इनके नाम हैं :

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा।

१- मूलाधार चक्र:—

यह चार पंखुड़ियों वाला कमल गुदाद्वार से २ अंगुल ऊपर है। इसका रङ्ग तपाये हुये सोने के समान देदीप्यमान है। श्री गणेशजी ऋद्धि-सिद्धि सहित इसमें विराजमान रहते हैं। यह पृथ्वी तत्व का स्थान है।

२- स्वाधिष्ठान चक्र:—

यह लाल रङ्ग का छः पंखुड़ियों का कमल है। इसके देवता ब्रह्माजी हैं और शक्ति सरस्वती है। यह चक्र लिङ्ग मूल के मूल पर स्थित है। इस स्थान पर जल तत्व रहता है।

३- मणिपूरक चक्र:—

यह दश दल कमल नाभिमण्डल में स्थित है। भगवान विष्णु अपनी शक्ति लक्ष्मी सहित इसमें वास करते हैं। यह अग्नि तत्व का स्थान है।

४- अनाहत चक्र:—

यह बारह पंखुड़ियों वाला रक्त वर्ण का कमल हृदय देश में स्थित है। भगवान सदाशिव गौरी सहित इस कमल को अधिष्ठान किये रहते हैं। यहाँ वायु तत्व रहता है।

५- विशुद्ध चक्र:—

कण्ठ देश पर स्थित सोलह पंखुड़ियों वाला सुनहरी रङ्ग का कमल विशुद्ध चक्र कहलाता है। इसके देवता शाकिनी हैं। किन्हीं योगाचार्यों के मत में इसे जीवात्मा का स्थान भी बताया गया है। इस स्थान पर आकाश तत्व रहता है।

६- आज्ञा चक्र:—

यह सफेद रङ्ग का दो पंखुड़ियों वाला कमल दोनों भौंहों के मध्यस्थ स्थान में है। इसके दोनों दलों पर 'हं' और 'क्षं' बीजाक्षर रहते हैं और बीच में ॐ सुशोभित रहता है। यह स्थान पञ्चतत्वों की सीमा से बाहर है। अतः तत्वों का यहाँ सर्वथा अभाव हो जाता है। यह स्थान गुरुदेव का है। यहाँ ज्ञानशक्ति सहित गुरुदेव विराजमान रहा करते हैं। इस कमल का ध्यान ही सर्वोत्कृष्ट है।

सहस्रदल कमल:—

इसे सहस्रार भी कहते हैं। यह एक हजार पंखुड़ियों वाला कमल मूर्धा स्थान में अर्थात् तालु के ऊपर है। यहाँ चिति शक्ति सहित परमेश्वर वास करते हैं।

ये सभी चक्र मेरुदण्ड के अन्दर रहने वाली एक अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ी के अन्दर स्थित हैं। सुषुम्ना नाड़ी और उसकी सहायक नाड़ियों तथा कुण्डलिनी महाशक्ति का वर्णन त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद् में विस्तार पूर्वक किया गया है। जैसे:—

[सुषुम्ना आदि दश प्रधान नाड़ियां]

कन्दस्थानं मनुष्याणां
देहमध्यं नवाङ्गुलम् ।
चतुरङ्गुलमुत्सेधं
चतुरंगुलमायतम् ॥
कन्दमध्ये स्थिता नाड़ी
सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता ।
पद्मसूत्र प्रतीकाशा
ऋजुरूर्ध्वं प्रवर्तिनी ॥
ब्रह्मणो विवरं यावद्वि-
द्युदाभास नालकम् ।
वैष्णवी ब्रह्मनाड़ी च
निर्वाण प्राप्ति पद्धतिः ॥
इड़ा च पिंगला चैव
तस्याः सव्येतरे स्थिते ।
इड़ा समुत्थिता कन्दा-
द्वामनासापुटावधि ॥
पिंगला चोत्थिता तस्माद्
दक्ष नासापुटावधि ।
गान्धारी हस्ति जिह्वा च
द्वे चान्ये नाड़िके स्थिते ॥
पुरतः पृष्ठतस्तस्याः
वामेतर दृशौ प्रति ।
पूषा यशस्विनी नाड्यौ
तस्मादेव समुत्थिते ॥
सव्येतर श्रुत्यवधि
पायुमूलात्वालम्बुसा ।
अधोगता शुभा नाड़ी
मेढ्रान्तावधिरायता ॥
पादांगुष्ठावधिः कन्दाधो
याता सा च कौशिकी ।
दशप्रकार भूतास्ताः
कथिताः कन्दसम्भवाः ॥
तन्मूलाः बहवो नाड्यः
स्थूलाः सूक्ष्माश्च नाडिकाः ।
द्विसप्तति सहस्त्राणि
स्थूलाः सूक्ष्माश्च नाड्यः ॥
चरन्ति दशनाडीषु
दश प्राणादि वायवः ।
प्राणादि पंचकं तेषु
प्रधानं तत्र वै द्वयम् ॥
प्राण एवाथवा ज्येष्ठो
जीवात्मानं बिभर्ति यः ॥

अर्थः—मानव देह के मध्य भाग में नौ अंगुल प्रमाण का कन्द स्थान है, यह चार अंगुल ऊँचा और चार अंगुल चौड़ा है । कन्द के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी स्थित है । यह पद्म सूत्र के समान अत्यन्त सूक्ष्म है और सीधा ऊपर की तरफ गई है । ब्रह्मरन्ध्र की तरफ जाने वाली यह वैष्णवी ब्रह्मनाड़ी बिजली के समान अत्यन्त प्रकाश युक्त है और जीव को मोक्ष प्राप्त कराने वाली है । इस के अगल-बगल इड़ा और पिंगला नाड़ियां हैं । इड़ा नाड़ी कन्द स्थान से निकलकर बांये नासापुट

तक गई है और पिंगला दांये नासापुट तक। गांधारी और हस्ति जिह्वा नामक दो अन्य नाड़ियां भी यहां स्थित हैं जो उसके आगे-पीछे बायीं और दायीं आंख तक गई हैं। पूषा और यशस्विनी ये दो नाड़ियां गुदा से निकल कर दायें और बायें कान तक गई हैं। अलम्बुसा नामक नाड़ी मेढ़ स्थान के अन्त तक नीचे की ओर गई है। कौशिकी नामक नाड़ी कन्द से लेकर पैर के अंगूठे तक गई है।

इस प्रकार से दश नाड़ियां कन्द स्थान से निकली हुई नहीं गई हैं। उस से निकलने वाली अन्य बहुत सी स्थूल और सूक्ष्म नाड़ियां हैं, जिनकी संख्या बहत्तर हजार है। इन दश नाड़ियों में दश प्रकार के प्राणवायु निरन्तर चलते रहते हैं। उन में प्राणादि पांच (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) मुख्य हैं, इन पांचों में भी प्राण और अपान ये दो मुख्य हैं और इन दोनों में भी प्राणवायु ही मुख्य है जो जीव को धारण किये रहता है। क्योंकि—

प्राणाधिरूढश्चरति
जीवस्तेन विना नहि।

जीव प्राण पर आरूढ़ होकर ही ऊपर-नीचे भ्रमण करता रहता है उसके बिना गति नहीं कर सकता।

कुण्डलिनी शक्ति

तस्योर्ध्वं कुण्डली स्थानं
नाभेस्तिर्यक्तथोर्ध्वतः॥
अष्ट प्रकृति रूपा सा
चाष्टधा कुण्डली कृता।
यथावद्वायुसंचारं
जलान्नादीनि नित्यशः।
परितः कन्दपार्श्वे तु
निरुध्यैव सदा स्थिता।
स्वमुखेन समावेष्ट्य
ब्रह्मरन्ध्र मुखं यथा॥
योगकालेन मरुता साग्निना
बोधिता सती।
स्फुरिता हृदयाकाशे
नागरूपा महोज्ज्वला।

कन्द के ऊपर कुण्डलिनी का तिरछा और ऊँचा स्थान है। अष्ट प्रकृति से युक्त यह महाशक्ति आठ प्रकार की कुण्डल करके कन्द स्थान को घेरे हुए है। यह वायु, अन्न और जल के संचार को रोकती रहती है और ब्रह्मरन्ध्र के मुख को अपने मुख से ढके रखती है। योगाभ्यास द्वारा यह कुण्डलिनी शक्ति हवा द्वारा प्रज्वलित अग्नि के समान जागृत होकर अत्यन्त देदीप्यमान होती हुई नागिन की भांति बड़ी तेजी से हृदयाकाश में स्फुरित होती है।

यह कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाने पर जीव का किस प्रकार उद्धार कर देती है, यह

बताते हुए योग-कुण्डलिनी उपनिषद में कहा गया है :—

तेनाग्निना च संतप्ता
पवनेनैव चालिता ।
प्रसार्य स्वशरीरं तु
सुषुम्ना वदनान्तरे ॥
ब्रह्मग्रन्थि ततो भित्वा
रजोगुण समुद्भवम् ।
सुषुम्ना वदने शीघ्रं
विद्युल्लेखेव संस्फुरेत् ॥
ब्रह्मग्रन्थि ततो भित्वा
विष्णुग्रन्थि भिनत्यतः ।
रुद्रग्रन्थि च भित्वैव
कमलानि भिनत्ति षट ॥
सहस्र कमले शक्तिः
शिवेन सह मोदते ॥
सैवावस्था परा ज्ञेया
सैव निर्वृत्ति कारणा ॥

योगाभ्यास जनित उष्णता से संतप्त हो कर तथा प्राणवायु द्वारा संचालित होकर कुण्डलिनी सीधी हो जाती है और सुषुम्ना नाड़ी के मुख में प्रवेश कर जाती है। रजोगुण से उत्पन्न ब्रह्मग्रन्थि (स्वाधिष्ठान चक्र) को भेदती हुई यह कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना नाड़ी के भीतर बिजली की रेखा की तरह चढ़ती है। ब्रह्मग्रन्थि को भेदकर यह विष्णुग्रन्थि (मणिपूरक चक्र) को भेदती है। इस प्रकार षटचक्रों का भेदन करती हुई यह सहस्रदल कमल में पहुँच जाती है। वहाँ यह शिव से शक्तिरूप में मिलकर आनन्द को प्राप्त होती है। इसे ही योग की सब से ऊँची भूमिका जानना चाहिए। यही मोक्षदायक अवस्था है।

मूलधार चक्र में स्थित यह कुण्डलिनी शक्ति ही आदि शक्ति और आधार शक्ति है। इसे ही वैष्णवी शक्ति, चितिशक्ति, महामाया दुर्गा, भगवती आदि नामों से पुकारा जाता है। मार्कण्डेय पुराण से उद्धृत श्री दुर्गा सप्तशती में इसी पारमेश्वरी शक्ति की महिमा एवं स्तुति में कहा गया है :—

त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या,
विश्वस्य बीजं परमासि माया ।
सम्मोहितं देवि समस्तमेतत्,
त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः ॥

हे महामाये ! तुम अनन्त शक्ति सम्पन्न वैष्णवी शक्ति हो। इस संसार की आधारभूता हो और परामाया हो। हे देवि ! तुमने इस समस्त जगत को मोहित कर रखा है। प्रसन्न हो जाने पर तुम ही इस पृथ्वी में जीवात्मा के मोक्ष का कारण बन जाती हो। अर्थात् जीवों को मोक्ष दिला देती हो।

इन्द्रियाणामधिष्ठात्री
भूतानां चाखिलेषु या ।

भूतेषु सततं तस्यै
व्याप्तिदेव्यै नमो नमः ॥
चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्
व्याप्य स्थिता जगत् ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै
नमस्तस्यै नमो नमः ॥

जो जीवों के इन्द्रियों की अधिष्ठात्री देवी है एवं सब प्राणियों में सदा व्याप्त रहने वाली है, उन व्याप्ति देवी को बारम्बार नमस्कार है।

जो देवी चितिरूप से इस सम्पूर्ण जगत को व्याप्त करके स्थित है, उनको बारम्बार नमस्कार है।

अजपा गायत्री 'हं' और 'सः' इन दो वर्णों पर ही आधारित है। ये दोनों वर्ण बीजाक्षर है। 'हं' शिव वाचक है और 'सः' शक्ति का। शक्ति का स्थान मूलाधार कमल है और शिव का स्थान है सहस्रदल कमल। 'हंसः' इस मन्त्र का निरन्तर जप करते रहने से शिव और शक्ति में (परमात्मा और जीवात्मा में) एकता स्थापित हो जाती है। इस स्थिति को असम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। इस भूमिका को प्राप्त करके योगी कृतार्थ हो जाता है और मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

हंस मन्त्र एवं गुरुदेव

हंस मन्त्र आत्म मन्त्र है। अतः गुरुगम्य इसकी साधना जितनी सरल है उतनी ही गूढ भी है। गुरुमुख से सुनकर ही इसका अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि गुरूपदेश से प्राप्त मन्त्र ही प्रभावशाली हुआ करता है। अन्यथा वह वर्ण-विन्यास मात्र ही रह जाता है। यह मन्त्र अत्यन्त गोपनीय है। इसे दूसरों के आगे प्रकट नहीं करना चाहिये।

हंसोपनिषद् में महर्षि गौतम जी की जिज्ञासा पर सनत्कुमार जी कह रहे हैं:—

अनाख्येयमिदं गुह्यं
योगिनां कोशसन्निभम् ।
हंसस्याकृतिविस्तारं भुक्ति-
मुक्ति फल प्रदम् ॥

इस हंस मन्त्र को किसी अज्ञात एवं अनधिकारी के सम्मुख प्रकट नहीं करना चाहिये। यह योगियों की तिजोरी की तरह परम गोपनीय है। हंस (आत्मा) की स्थिति को बतलाने वाला यह वर्णन भोग और मोक्ष दोनों फलों को देने वाला है। ब्रह्मचारी, शान्त, संयमी और गुरुभक्त साधक ही हंसयोग का अधिकारी है। उसी के सम्मुख हंस और परमहंस का रहस्य प्रकट करना उचित है।

ब्रह्मविद्योपनिषद् में कहा गया है कि यह हंसविद्या ईश्वरत्व प्राप्त करने का एक अमोघ साधन है। अनन्य गुरुभक्त ही इस विद्या का अधिकारी है। गुरुनिष्ठ साधक को ही इसमें प्रवेश करना चाहिये। उसी के लिये यह विद्या फलवती हुआ करती है।

हंसविद्यासमा लोके नास्ति
नित्यत्व साधनम् ।
यो ददाति महाविद्यां
हंसाख्यां पावनीं पराम् ॥
तस्य दास्यं सदा कुर्यात्
प्रज्ञया परया नरः ।
शुभं वाऽशुभमन्यद्वा
यदुक्तं गुरुणा भुवि ॥
तत्कुर्यादविचारेण
शिष्यः संतोषसंयुतः ।
हंसविद्यामिमां लब्ध्वा
गुरु शुश्रूषया नरः ॥
आत्मानमात्मना साक्षाद्
ब्रह्मबुद्ध्वा सुनिश्चितम् ।
देहजात्यादि सम्बन्धान्
वर्णाश्रमसमन्वितान् ॥
वेद शास्त्राणि चान्यानि
पद पांसुमिव त्यजेत् ।
गुरुभक्तिं सदा कुर्या-
च्छ्रेयसे भूयसे नरः ॥

इस जगत में हंसरूपी विद्यामृत के समान नित्यत्व का और कोई साधन नहीं है। जो इस हंस नामक पारमेश्वरी विद्या को देता है, उसकी सदैव ज्ञानपूर्वक सेवा करनी चाहिये। गुरुदेव की आज्ञाओं का तत्परता से पालन करना चाहिये। गुरुदेव शुभ या अशुभ जो भी आदेश दें, शिष्य को उस पर किसी प्रकार का विचार न करते हुये सन्तोष युक्त भाव से उसका पालन करना चाहिये।

साधक को चाहिये कि वह गुरु से इस हंसविद्या का उपदेश ग्रहण करके सदैव गुरु-सेवा परायण रहे और आत्मा द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करके निश्चल ब्रह्म को जाने। शरीर और जाति से सम्बन्धित वर्ण आश्रम के धर्मों को अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ सन्यास इन आश्रमों के नियमों को तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जाति के लिये निर्दिष्ट धर्म सिद्धान्तों को और इसी प्रकार वेद-शास्त्र आदि को विशेष महत्व न दे। वह इन सबको दौला करता हुआ परम कल्याण के लिये सदैव गुरुभक्ति परायण बना रहे।

एतत् परमं गुह्य-
मेतत् परमं शुभम् ।
नातः परतरं किञ्चि-
न्नातः परतरं शुभम् ॥
गुरु भक्ताय देवाय
नित्यं भक्तिपराय च ।
प्रदातव्यमिदं शास्त्रं
नेतरेभ्यः प्रदापयेत् ॥

यह हंसयोग सबसे गुह्य रहस्य है। यही सबसे श्रेष्ठ है। इससे आगे और कुछ नहीं है और इससे बढ़कर कल्याणकारी कुछ भी नहीं है। यह हंसविद्या उसी को देनी चाहिये जो गुरुदेव का सच्चा भक्त हो और सदा भक्ति-

परायण रहता हो। उसके अतिरिक्त और किसी को यह विद्या नहीं देनी चाहिये।

श्वेताश्वतरोपनिषद् का वचन है।

यस्य देवे परा भक्तिः
यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः
प्रकाशन्ते महात्मनः॥

जिस साधक की परमेश्वर में परम भक्ति है और जिस प्रकार की भक्ति परमेश्वर में है वैसी ही दृढ़ भक्ति गुरुदेव में भी हो, उसी श्रद्धालु महात्मा के हृदय में ये रहस्यमय विषय प्रकाशित हुआ करते हैं।

यह हंसविद्या परम पवित्र एवं अत्यन्त दुर्लभ है। सभी उपनिषदें एक स्वर से इसकी महिमा गान कर रही हैं। इसका ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है।

कुण्डलिन्या समुद्भूता
गायत्री प्राणधारिणी।
प्राण विद्या महाविद्या यस्तां
वेत्ति स वेदवित्॥

कुण्डलिनी शक्ति से उत्पन्न होने वाली यह अजपा गायत्री प्राणधारिणी प्राणविद्या और महाविद्या है। जो इसको जान लेता है, वही वेदों के रहस्य का जानने वाला है।

(योगचूडामणि उपनिषद्)

प्रार्थना—

❀ धारणा-ध्यान-समाधि ❀

हे भगवन्, मुझे धारणा की अर्थात् आत्मा या परमात्मा के विषय में चित्त को बाँधने की कला प्रदान करो।

हे भगवन्, मुझे शक्ति प्रदान करो कि मैं यम-नियमों को जीवन के आचरण में ला सकूँ, प्राण और इन्द्रियों के द्वार बन्द कर सकूँ, मन से ऊपर उठ सकूँ, निरन्तर ईश्वर चिन्तन कर सकूँ, अन्त में केवल आत्मस्वरूप द्वारा मौन को प्राप्त हो सकूँ अर्थात् समाधिस्थ अवस्था को प्राप्त हो सकूँ।

हे भगवन्! मैंने सुन रखा है—

'भगवत्ता का दिव्य प्रकाश धरा पर
केवल क्षण भर ही रुक पाता है'

ज्ञान की पूर्ण उषा पार्थिव भूमिका पर अधिक देर तक नहीं रुक पाती। मानव के अन्दर में दिव्य प्रकाश की एक धुंधली छाया भर रह जाती है। मुझे आत्मबल दो कि ऐसे दिव्य प्रकाश से मैं कहीं वंचित न रह जाऊँ।

—एक साधक

तमसो मा ज्योतिर्गमय

ले० श्री रामलाल शर्मा

वेद व शास्त्रों में केवल दो ही वस्तुओं का निरूपण है यह है, विधि तथा निषेध। मानव के लिए पालनीय कर्म का आदेश तथा त्याज्य-कर्म का निषेध ही सत्शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय होता है। यह उपादेय तथा हेय कर्म केवल मनुष्य के लिए ही होते हैं क्योंकि इस का देह ही 'कर्म देह' माना जाता है। देव तथा तिर्यक् आदि योनियाँ सब भोग योनियाँ हैं, अतः इन पर मानव जगत के नियम लागू नहीं होते।

उपनिषद्-काल में जीव का बन्धन, बन्धन का स्वरूप तथा इससे मुक्ति के उपाय आदि विषयों पर गहन मनन हुआ है। यह अध्यात्म ज्ञान या ब्रह्म ज्ञान के नाम से जाना जाता है। इस में मुख्यतः आत्म तथा अनात्म वस्तुओं का विश्लेषणात्मक परिज्ञान कराया गया है।

उपनिषदों में मानव के लिए एक उद्बोधन व चेतावनी मिलती है। वह है उपनिषदों का प्रसिद्ध वाक्य 'तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सद्गमय, मृत्योर्मा-अमृतंगमय'

अर्थात् ऐ मानव ! तू अन्धकार में मत भटक प्रकाश की ओर चल। असत् से सत् की ओर बढ़। मृत्यु को न प्राप्त होकर अमृतत्व को प्राप्त कर।

अन्धकार ही तम कहलाता है। अविद्या इसका अपर नाम है। इसी को वेदान्त में 'माया' शब्द से जाना जाता है। यह बाह्य दृश्यमान जगत अविद्या का ही कार्य-विस्तार है। योग-दर्शन में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश पाँच क्लेश माने गये हैं। इन्हीं को अन्य शास्त्रों में तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र के नाम से व्यवहृत किया जाता है। इन पञ्च क्लेशों का समूलोन्मूलन ही योग साधना का उद्देश्य है। अविद्या अन्य क्लेशों की जननी व सकल अनर्थों की मूल है। योग दर्शन में इस की परिभाषा करते हुए भगवान पतञ्जलि देव लिखते हैं —

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्य
शुचि सुखात्म ख्यातिरविद्या।

अर्थात् पृथ्वी इत्यादि अनित्य वस्तुओं को नित्य समझना, मल मूत्र व दुर्गन्ध युक्त अशुद्ध शरीर में शुद्धता मानना, दुःख को सुख मानना तथा जो देहादि अनात्म वस्तुएँ हैं उनमें आत्म बुद्धि रखना अविद्या कहा गया है। उपनिषद हमें उद्बोधित करते हैं। देहाध्यास को त्याग कर आत्मस्थ बनो। बाह्य जगत से अन्तर्जगत में प्रवेश करो। पर यह जीव अविद्यारूपी रस्सी से अपने आप ही अपने को बाँधता है। इस अविद्या रूपी रस्सी को योगाभ्यास व वैराग्य रूपी खड्ग से काटकर आत्मतत्व पहचान।

'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति
नान्यः पन्थाः विद्यते अयनाय'

उस परमात्म तत्व को जानकर ही मानव मृत्यु से पार जाता है मुक्ति का दूसरा और रास्ता नहीं है। 'ज्ञानान्मुक्ति' आत्म ज्ञान से ही मुक्ति होती है। ऐसा शास्त्र मानते हैं। अन्यत्र भी कहा गया है—

व्रतानि दानानि तपांसि यज्ञाः
सत्यं च तीर्थाश्रम कर्मयोगाः।
स्वर्गादिमेवा शुभमध्रुवं च
ज्ञानं ध्रुवं शान्तिकर महार्थम्।

भावार्थ यह है कि ज्ञान ही ध्रुव एवं परम शान्ति का दाता है। योग साधन ही उस आत्म ज्ञान एवं परम शान्ति का उपाय है 'निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' योग के द्वारा उसका अनुभव कर लेने पर मृत्यु के मुख से छूट जाता है। आगे भी कहा गया है 'एतद्यो वेद निहितं गुहायाम् सोऽविद्या ग्रन्थिविकिरतीह सोम्य' (मु० उ०) हे सोम्य। उसे जो बुद्धिरूपी गुहा में छिपा हुआ जान लेता है वह अविद्या ग्रन्थि को छिन्न-भिन्न कर देता है। योग दर्शन में उस अविद्या ग्रन्थि को छेदन करने का उपाय बताया गया है 'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः' विप्लव रहित विवेक ख्याति से अविद्या का नाश होता है। इस विवेक ख्याति द्वारा ही प्रकृति तथा पुरुष का अलग-अलग ज्ञान होता है। चित्त शुद्धि या सत्व शुद्धि द्वारा ही यह विवेक ख्याति प्राप्त की जाती है। योग के सम्पूर्ण अंगों का अनुष्ठान, जाप व ध्यानाभ्यास चित्त शुद्धि के लिए ही किये जाते हैं। चित्त की एकाग्रता द्वारा रजतमो गुणों को पूर्णरूप से क्षीण करके सत्व गुण का अवलम्बन लेकर चित्त शुद्धि द्वारा ही अन्तर्जगत में प्रवेश होता है। अन्त में सत्व गुण को भी पार करके गुणातीत अवस्था प्राप्त की जाती है।

योग मार्ग का अवलम्बन लेकर जीव वृत्ति से अन्तर्मुखी हो जाता है। बहिर्मुखता ही मृत्यु है तथा अन्तर्मुखता है जीवन।

श्री मद्भगवद् गीता में भी भगवान ने इसी अन्तर्मुखता का निरूपण निम्न श्लोक द्वारा किया है।

या निशा सर्व भूतानां
तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि
सा निशा पश्यतो मुनेः।

अर्थात् योगी अन्तर्मुखी होने के कारण अन्तर्जगत में बोध युक्त रहता है परन्तु अज्ञानी उस जगत में प्रवेश रहित होते हैं। जिस बहिर्मुखी दृष्टिगोचर सृष्टि में संसारी समस्त व्यवहार करते हैं उसमें योगी व्यवहार रहित विचरण करता है। अनासक्त होकर अद्वैत व्यवहार करता है इस सम्बन्ध में महर्षि रमण का एक प्रसंग याद आया। एकबार महर्षि रमण के समय में दक्षिण में

भागीं और उपद्रव हुआ। सैकड़ों व्यक्ति उस उपद्रव में मारे गये। एक अँग्रेज आफीसर महर्षि जी के पास आया और कहने लगा— स्वामी जी आप के आसपास लोगों की हत्यायें हो रही है, आप इस विषय में कुछ नहीं कर रहे हैं। स्वामी जी बोले, जब तुम सिनेमा के पर्दे पर किसी मकान में आग लगी हुई देखते हो क्या तुम आग बुझाने के लिए पर्दे पर पानी डालते हो? आफीसर इस का तात्पर्य समझ गया।

अन्तर्मुखता और बहिर्मुखी वृत्ति को समझाते हुये पूज्यपाद गुरुदेव श्री पतंजलि जी के एक सूत्र को लेकर प्रायः यही बतलाया करते हैं।

'प्रकाश क्रिया स्थिति शीलं
भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थम् दृश्यम्

अर्थात् सत्व रज और तम स्वभाव वाले स्थूल तथा सूक्ष्म भूतात्मक और इन्द्रियात्मक दृश्य है जिनका उद्देश्य भोग तथा अपवर्ग प्रदान करना है। इस प्रकार दृश्य के दो भाग हुये एक भोगार्थ तथा दूसरा अपवर्गार्थ

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा हम बाह्य जगत के शब्द स्पर्श आदि विषयों का उपभोग करते हैं यह भोगार्थ है। परन्तु इन्हीं चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वार को आवृत करके अन्तर के शब्द स्पर्श रूपादि दिव्य विषयों का अनुभव करते हैं यह अपवर्ग का दाता है। इसी बात की पुष्टि कठोपनिषद के एक मन्त्र से होती है।

पराञ्चिखानिव्यतृणत स्वयम्भू,
तस्मात् पराङ पश्यति नान्तरात्मन्
कश्चित् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत
आवृत चक्षुः अमृतत्वमिच्छन

अर्थात् स्वयम्भू ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया। इस से जीव बाहर की ओर देखता है। कोई-कोई धीर पुरुष अमृतत्व की इच्छा करके उस प्रत्यगात्मा को देख पाता है।

ध्यान-ज्योति के सहारे उस प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार हो पाता है। उपनिषद् उद्बोधन देते हैं।

'उत्तिष्ठत जाग्रत
प्राप्य वरान्निबोधत्'

अर्थात् उठो जागो और महापुरुषों को पाकर अपने स्वरूप को पहचानो। हमारे जीवनधन पतित-पावन श्री गुरुदेव जी ने हम सब को ध्यान योग का उपदेश देकर अमृतत्व का द्वार खोल दिया है। उन्हीं की करुणा कृपा से हम अपने हृदय गुहा में निगूढ़ गुप्त रूप आत्मा को जान सकते हैं। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' के सिद्धान्तानुसार करुणा वरुणालय श्री गुरुदेव ने शिष्य रूप में हम सब को वरण कर लिया है जिनको वे वरण कर लेते हैं, उनको वे अपना स्वरूप प्रदान कर देते हैं। उन वरेण्य वरेण्य सद्गुरुदेव को कोटि-कोटि प्रणाम है।

❈ खोजत-खोजत सद्गुरु पाइए ❈

❀ श्री डा० रमेशचन्द्र मिश्र, दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्तवाणी गुरु परम्परा की वाणी है और इस वाचिक एवं लिखित परम्परा में पूरी एक संस्कृति, पूरा एक राष्ट्र जीवित रहा है। हमारा यह अध्ययन-निष्कर्ष है कि भारतीय सन्दर्भ में गुरु अथवा सद्गुरु+ सम्बन्धी-चिन्तन अपने व्यापक परिवेश में पूरे राष्ट्र पूरी परम्परा के चिन्तन का प्रतिबिम्बित करता है। 'गुरु' अपने भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही रूपों में जीवन के 'परम', जीवन मूल्य अथवा व्यापक सत्य से जोड़ने वाला, साधक और साध्य को एकाकार करने वाला है, सापेक्ष शाश्वत से संबंध स्थापित करने वाला, स्थूल से सूक्ष्म की ओर इंगित करने वाला, देश-काल की सीमा में पूरी संस्कृति का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत करने वाला, परम सत्य 'गोविन्द' की 'धरती' पर स्थापित करने वाला, समूह में तत्त्व की सत्ता प्रदान करने वाला, प्रतिबद्ध-समर्पित जीवन को व्यवहार में उतारने वाला, लोक-करुणा से विगलित होकर, भेद-दृष्टि से रहित होकर, वर्षा के समान वाणी-वर्षा से लोक-हृदय को स्निग्ध बनाए रखने वाला, लघु-विराट् की सीमा में व्याप्त एक ऐसा अद्भुत आदर्शमय यथार्थ चिन्तन है, जो विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। यह 'सद्गुरु' का 'धरती' निरन्तर खोज, शोध, अन्वेषण एवं वैयक्तिक सन्धान का परिणाम है। १,

मनुष्य-जीवन एक सतत् संघर्ष है। संघर्ष में वह निरन्तर सीखता है। अपने व्यापक अर्थ में निजी अनुभव अथवा दूसरे के अनुभव से दृष्टि एवं आचरण में व्यापक अथवा सार्वभौम से जुड़ना ही 'जीवन-अनुभव' कहा जा

+ टिप्पणी: व्यवहार में 'गुरु' के लिए गुरुदेव, शिक्षक, अध्यापक, पुरोहित, उस्ताद, मुन्शीजी, पीर, काजी, मुल्ला, गाइड, टीचर, प्रीचर, पादरी, पोप आदि अनेक शब्द प्रचलन में हैं, किन्तु 'सद्गुरु' शब्द एक विशेष चिन्तन अर्थ का पर्याय है।

१. 'यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥' मुण्डकोपनिषद्

२. 'सतगुरु मैं सीखी सही, अब पाया हरि का भेद।' —क० ग्र०, १/२७ पा०टि०
'सतिगुरु धरती धरम है, तिसु विचि जेहा बीजे तेहा फलु पाए।
गुरमुखि अंमृत बीजिआ, तिन अंमृत फलु हरि पाए ॥'
—गुरु ग्र. सा०, राग गउड़ी, पृ० ३०२

योग महोत्सव के अवसर पर बनाये जा रहे विशाल पण्डाल के खम्भे की मजबूती का निरीक्षण करते हुए अनन्त श्री गुरुदेव-जी महाराज।

श्री सद्गुरुदेव जी महाराज एक बालक को सस्नेह आशीर्वाद देते हुये।

सकता है। जिज्ञासु को, व्यापक जीवन जीने के लिए, प्राप्तव्य 'अनुभव', व्यक्ति अथवा सिद्धान्त गुरु, विचार या विवेक-गुरु से प्राप्त हो सकता है। 'सम्पूर्ण' से परिचय कराना, साक्षात्कार कराना ही सद्गुरु का कार्य है—

पूरे सूँ परचा भया,
सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्ही आतमा,
तार्थे सदा हजूरि॥
—क० ग्रं०, १/३४

इस असीम जीवन-प्रांगण में आस्था, सद्-गुरु की संकल्पना भारतीय चिन्तन की विशेष देन कही जा सकती है। यह सङ्कल्पना, सामा-जिक सन्दर्भ में एक ठोस भूमिका को लेकर शुरु हुई है। मनुष्य के जन्म के साथ ही उसके वैयक्तिक संस्कार, पारिवारिक सामा-जिक दबाव, सांस्कृतिक अपेक्षाएँ, वैभव स्थिति में अपने अस्तित्व का योगदान, जीव मा चेतना की निरंतर यात्रा में अपनी जीवन 'कमाई' सम्बन्धी अनेक प्रश्न, चिन्तनपूर्ण जीवन में प्रवेश करते ही, जिज्ञासापूर्वक उठ खड़े होते हैं। ऐसी मानसिकता में, बिना दिशा-निर्देश के, जीवन-यात्रा में अग्रसर हो पाना कठिन माना जाता रहा है। व्यक्ति के जन्म और जन्म की आवश्यकताओं, उसके परिवेशगत सम्बन्धों के अनुभव के साथ ही, आसक्ति-आकर्षण-मनोरंजन और तज्जन्य राग-द्वेषादि उसके बोध को अत्यन्त सीमित दायरे में बांधने के लिए विवश करते रहते हैं ऐसी जिज्ञासा के जागृत होते ही सही-गलत, सत्य-असत्य, करणीय-अकरणीय, तुच्छ विशाल, ससीम और असीम 'परम' के बीच की किंकर्तव्यविमूढ़ता की या तो शास्त्र समाधान देते हैं अथवा आचरणयुक्त 'अनुभवी' ही उसकी अच्छा समाधान कर पाता है। इस निष्कर्ष को जब हम भारत के सन्दर्भ में विचार करते हैं तो पाते हैं कि इस देश में शास्त्र तो रहा है, किन्तु उस शास्त्र से बहुत बड़े जन समाज का सीधा सम्बन्ध-सम्पर्क स्थापित नहीं हो पाता अथवा नहीं हो पाया है। इसलिए छोटे दायरे से बड़े दायरे में, ससीम से असीम में पहुँचने-पहुँचाने का प्रयत्न-प्रयास, अपनी वाचिक परम्परा में निज अनुभव से परिपूर्ण गुरु या सद्गुरु के 'वचन' वाणी द्वारा ही होता रहा है।

खोज बड़ी संसार रे, तुम खोजो साधो, खोज बड़ा संसार।
खोजत खोजत सद्गुरु पाइए, सद्गुरु सब्द करतार॥
—निरञ्जन, २७/१

जागा जोगी कनक रावलिया, गुरुदेव मैंहसी तूठो।
पोजतां खोजतां सद्गुरु पाया, सहजैं ने भाव तूठो॥
—गोरख बानी, पद ३१

इस जीवनगत जिज्ञासा का समाधान पाने के लिए यह सच है कि पहले तो 'सद्गुरु' की संकल्पना के प्रति आश्वस्त हुआ जाए और फिर उस दिशा में आस्था होने पर सद्गुरु की खोज, सन्धान अथवा स्वयं अन्वेषण का गंतव्य बनाए रखा जाय। परन्तु व्यवहार में ऐसा हो पाना दुष्कर ही देखा जाता है और उस दिशा में लक्ष्य प्राप्ति में 'प्राप्ति का आग्रह' रहित 'अनुभव' बनाए रखते हुये उस मार्ग पर अग्रसर बने रहना और भी दुस्साध्य दिखाई देता है। इसका प्रमुख कारण यही है कि व्यक्ति के समाजगत अनेकानेक सम्बन्धों में आकर्षक-आसक्ति मनोरंजन और तज्जन्य राग-द्वेष इतने प्रभावी बने रहते हैं कि चेतना उनसे आप्लुत और आच्छादित हो जाती है। फलतः व्यक्ति अपनी मूल स्वतन्त्र दशा को, लघु जीवन में, लघु 'अवधि' की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपयोगिता को लक्षित नहीं कर पाता। क्योंकि लोक-विद्या में पारंगत न होने के कारण, शास्त्र में गति न होने के कारण, अधकचरे अधीत अथवा मूल से कटे हुए सुने सुनाये शास्त्र को, बोध भूमि में सम्यक् रूप से न उतार पाने के कारण, करणीय-अकरणीय का द्वन्द्व चेतना को द्विधाग्रस्त बनाए रखता है। फलतः सम्बन्धों के केन्द्रीकरण की सीमा के कारण 'विचार' आचरण में नहीं उतर पाता और विचार क्रिया में न आने के कारण सही 'अनुभव' नहीं मिल पाता। क्योंकि क्रिया के अनुभव में आने पर ही द्विजता आती है, क्रियावान् हो तो विद्वान् होता है—

शास्त्राणि अधीत्यापि भवन्ति मूर्खा।
यस्तु क्रियावान् स एव विद्वान्॥

उक्त 'अनुभव' की प्राप्ति के लिए ही गुरु का सन्धान अपेक्षित रहता है। क्योंकि न चाहते हुये भी, तामस-राजस एवं सात्विक गुणों के दबाव के कारण व्यक्ति-व्यक्ति के व्यवहार में आसक्ति वासना की जकड़बन्दी प्रबल बनी रहती है। अतः ऐसी मानसिकता में, ऐसे परिवेश में, अपनी क्रिया का सहज प्राप्त करने में असमर्थ व्यक्ति एक विशेष

गुरु धरती गोविन्द जल, शिष तरुवर मधि पोष।
रज्जब सरकै ठौर तें, देखि दुहूँ बिधि दोष॥
—र० बा०, साखी ७/६३

मन रज्जब गुरु धरणि पर शिष मारे बनराय।
—वही, ४/४४

खोजत खोजत सद्गुरु पाया। औरे धीरे सब उरझाया॥
—सुन्दर ग्रं०, भा २, पद ५, पृ० ८६८

प्रकार की विवशता असमर्थता का अनुभव करता है और लौकिक सम्बन्धों के रहते हुये भी, वह विशेष अभाव या अकेलेपन का अनुभव करता है। अभावजनित यह 'बेचैनी' उसे भटकाती है, सामाजिक अपराध की ओर भी ले जा सकती है तथा एक विशेष प्रकार की मानसिक 'खोज' में तत्पर भी कर सकती है। चिन्तन में अभाव अथवा अकेलेपन की इस बेचैनीभरी जिज्ञासा में चित्त-वृत्ति, जीवन के 'परम' की खोज, जीवन को सार्थक बनाने की दिशा में, जीवन मूल्य का अन्वेषण, गुरु अथवा 'भूमा मूल्य' की तलाश में अग्रसर होती है, हो सकती है। यह विशेष खोज अथवा शोध वृत्ति जीवन की सुख सुविधाओं से सन्तुष्ट नहीं हो पाती और न परिवार के सीमित सम्बन्धों तक ही अपने को बाँध कर रख पाती है। इस अभाव जन्य 'बेचैनी' अथवा अतृप्ति के अनुभव के फल-स्वरूप चेतना के पुनः संस्कारित होने पर ही जीवन में 'बड़े भाग्य' (सद्गुरु) को पा लेने की जिज्ञासा-उत्सुकता बलवती होती है। सच तो यह है कि यह अभाव अथवा अतृप्त चेतना ही मनुष्य को खोजने, चिन्तन करने और चिन्तन के फलस्वरूप खोज अन्वेषण करने के लिए 'लगन' प्रदान करती है। खोज की यह उत्कण्ठा-जिज्ञासा मुझ जैसों में 'जल बिच मीन पियासी' की तरह, निरन्तर अतृप्ति का अनुभव कराती है। इसी सन्दर्भ में मुझे महामति प्राणनाथ का 'खोज' सम्बन्धी कथन (—किरन्तन २७/१ तथा 'तब खोज सब्द को लीजै तत। तोल देखिए कहाँ के हो मत'—किरन्तन ४/७) परम मूल्य की प्राप्ति में, लगातार लगे रहने के लिए प्रेरणा शक्ति भरने वाला लगा है। 'खोज' विषयक यह मन्त्र, कहीं रुक कर नहीं बैठने देता। अपितु निरन्तर चलते रहने के लिए दीप स्तम्भ सा बना रहता है। चेतना वृत्ति की ऐसी लगन, संसार सागर को नित्य नवीन बनाए रखने वाला पाथेय है। ऐसी मानसिकता में साधक को चेतना का 'प्रियवर' ही नहीं, 'प्रियतम' भी साधन बन जाता है। तभी तो मानव में सन्निहित करने, स्थूल में सूक्ष्म का दर्शन कराने की क्षमता रखने वाले कबीर और प्रीतम के सद्गुरु की तरह ही, १, महामति

१.　सतगुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपगार।
　　लोचन अनन्त उघाड़िया, अनन्त दिखावणहार॥
　　　　　　　　　　　　　　—क० ग्रं०, १/३

　　महामत कहे गुरु सोई कीजे, जो अलख की देवे लख।
　　इन उलटी से उलटाय के, पिया प्रेमें करे सनमुख॥
　　　　　　　　　　　　　　—किरन्तन, ५/१३

　　याके अन्तर बासा ब्रह्म का, सो सतगुरु दिया बताय।
　　बिन समझे या ब्रह्म को, और न कोई उपाय॥
　　　　　　　　　　　　　　—किरन्तन, ३५/२३

भी समय में व्याप्त 'ब्रह्म' का साक्षात्कार कराने वाले 'गुरु' प्राप्ति की प्रेरणा देते हैं—

परम मूल्य को समझने, प्राप्त करने में 'सद्गुरु' की आवश्यकता क्यों होती है, इसे भी यहाँ समझना आवश्यक है। वास्तव में जीवन एक निरन्तर यात्रा है, द्वन्द्व संघर्षपूर्ण अथवा आसक्ति आकर्षणों में बाँधने वाली। अतः इस झाड़-झंखाड़ वाली अँधेरे की यात्रा में गन्तव्य लक्ष्य निर्धारित न किया गया, तो यह अमूल्य जीवन व्यर्थ ही चुक जाएगा। हमारे चारों ओर का जो परिवेश है, जिसे जगत् कहते हैं, वह ऐसा ऊबड़-खाबड़, फिसलनभरा मार्ग है अथवा विरोधाभास विसंगति भरी लोक व्यवस्था के नियमों से संचालित है, कि बिना विवेक अभ्यास के बिना, स्वयं के अनुभव के बिना, परिस्थिति को परख कर पाना, मार्ग को चुन पाना अथवा निर्द्वन्द्व होकर एक मार्ग पर चल पाना, टिक पाना दूभर लगता है। इसीलिए ही तो हम संसारी, विचार या विवेक के बिना निश्चिन्त निश्चल मति होकर, ध्येयनिष्ठ एकनिष्ठ होकर नहीं चल पाते, क्योंकि व्यवहार के बीच अनेक आकर्षण प्रलोभन, विचार एवं चेतना को द्विधाग्रस्त रखकर कमजोर बनाते हैं। एकनिष्ठ चेतना में एक मार्ग चुनना, एक लक्ष्य, एक नगर, एक गन्तव्य तक पहुँचना अनिवार्य सा लगता है। वह मार्ग किसी भी साधना पद्धति का, किसी प्रकार के भी सात्विक कर्म का हो सकता है, पर वह मार्ग विवेक सम्मत हो, ऐसी अपेक्षा रहती है।[१] वास्तव में अध्यात्म-चिन्तन जीवन और जगत् के संबंधों के विषय में अपनी स्थिति को निर्धारित करने सम्बन्धी सूक्ष्म-चिन्तन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, किन्तु इस चिन्तन का विधान कोरी कल्पना नहीं है, अपितु एक दीर्घकालीन साधना है, एक विचार पद्धति है। अपक्व, द्विधाग्रस्त कमजोर मानसिकता वाले इस पर नहीं चल सकते। कोई यदि चलने का स्वांग करता भी है तो देखना यह है कि

सतगुरु थैं सोझी भई, तब पाया हरि का खोज।
—क० ग्रं० (ख), १/२७

ज्ञान गुरु से पाइये, गुरु है ज्ञान स्वरूप।
कहै प्रीतम ज्ञान मिलै, अखिल भुवन को भूप॥
—गुज० सं० हि० का०, पृ० २०४

१. नारायण और नगर को रज्जब पंथ अनेक।
कोई आवै किहीं दिसि, आगैं अस्थल एक॥
—रज्जब बानी, ६६/१८

वह लोक दिखावा करके आडम्बर तो नहीं करता? १. निश्चय ही आध्यात्मिक चिन्तन की मानसिकता में वृत्ति का स्खलन, किसी न किसी प्रकार से चेतना को शीर्ण-संकीर्ण ही बनाता है। इसीलिए कबीर हाथ में दीपक (विचार-विवेक-गुरु) लेकर मार्ग तय करने की बात कहते हैं—

पाछैं लागा जाइ था,
लोक वेद के साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या,
दीपक दीया हाथि॥
—क० ग्रं०, १/११

अब यहाँ आध्यात्मिक परिवेश में उक्त चिन्तन के दार्शनिक साधनात्मक पक्ष पर विचार करना है। आध्यात्मिक शब्दावली में कहें तो कहा जा सकता है कि इस जगत में 'ब्रह्म' लीला कर रहा है, अथवा यह जगत स्वयं लीलामय है अथवा लीलामय का बिम्ब है, स्वरूप है, प्रतिबिम्ब है। किन्तु लीलामय के स्वरूप को आच्छन्न करने के लिए, माया अपने समुदाय सहित आवरण बनकर बीच में विभाजकता बनाए रखती है। ऐसे आवरण के वातावरण में 'सत्य' की पहचान कर आचरण में उतारने की समस्या प्रबल बनी रहती है। ऐसी स्थिति में नित्यानित्य वस्तु विवेक कर पाना टेढ़ी खीर है। २ अथवा यों कहें कि एक जिज्ञासु अपने जिज्ञासा तत्त्व-ज्ञान से लघु में विशाल, संकीर्ण में विस्तार, पिण्ड में ब्रह्माण्ड, व्यक्ति में समष्टि, सीमित में विराट्, बिन्दु में सिन्धु, अंश में अंशी, वृक्ष में बीज, मिथ्या में वास्तव, अनित्य में नित्य, असत्य में सत्य अथवा खण्ड में पूर्ण देखना

१. 'नाँ' गुरु मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव।
दुन्यूँ बूड़े धार में चढ़ि पाथर की नाव॥
—क० ग्रं०, १/१६

करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूंड।
जाणै बूझै कुछ नहीं, यौं ही आंधा रूंड॥
—क० ग्रं०, १८/३

कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ।
नैनूं रमइया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ॥
—वही, ११/४

भगति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम।
—क० ग्रं० (ना०) १२/१८

२. ज्यों का त्यों ही देखिए, पूरन संसारा।
सरिता नीर प्रवाह ज्यों, नहिं खण्डित धारा॥
—सन्त का० संग्र०, सुन्दरदास, पद, पृ० ३४७

चाहता है, तो क्या करे ? चिन्तन की इस प्रक्रिया से महामति भी गुजरे होंगे, तभी तो जिज्ञासा करते-करते, संशय शमन करते-करते वे एक 'धनी' के विश्वास तक पहुँचे हैं:—

संसै मिटाया सद्गुरें,
साहेब दिया बताए।
—किरन्तन, ६४/१५

मोहजल गेहरे छूबते,
कौन काढ़े या धनी बिन।
—प्रकाश हि०, ३/४५

निवेरो छीर-नीर का,
महामत करे कौन और।
माया ब्रह्म चिन्हाए के,
सतगुरु बतावें ठौर।१
—किरन्तन, २८/२२

और उस निरन्तर शोध-सन्धान के निष्कर्ष के फलस्वरूप ही तो उन्होंने 'जागनी' का मन्त्र प्रदान किया है। वह मन्त्र जो राग-द्वेष की, यश-लाभ की अथवा सकामता से प्राप्त जमींदी मानसिकता को झकझोर कर, ध्यान करने एवं व्यक्ति के संकल्प को साधना के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए सन्नद्ध करने की चेतना प्रदान करता है। इस जागनी-मन्त्र के अवलम्ब में 'सत के बनजारे' 'सुन्दर साथ' को, मिथ्या को छोड़कर 'वास्तव' का पल्ला पकड़ना पड़ेगा और यह पल्ला तभी पकड़ा जा सकता है जब 'सतगुरु' अनुकूल हों रे—

सुनो रे सत के बनजारे,
एक बात कहूँ समझाई।
या फंद बाजी रची माया की,
तामें सब कोई रह्या उरझाई।
महामत कहे सावचेत होइयो,
मिलना है अंकूरों आई।
झूठी छूटे सांची पाइए,
सतगुरु खोजें दिखाई।
—किरन्तन पृ० ६

अब सोचना यह है कि गुरु जिज्ञासु की चेतना का रूपान्तरण कैसे करता है, अणु में विराट् के दर्शन कैसे करा देता है ? गुरु शब्द बीज शिष्य की चित्त भूमि में कैसे उगाता है।

१. एकहि ब्रह्म रह्यो भरपूरि तो, दूसर कौन बताव निहारो।
जो कहै बोध भयो जगदीश तें, तो रवि माहिं कहाँको अंधारो॥
—वही, सवैया, पृ० ३५१

२ दुर्लभो विषय त्यागो, दुर्लभं तत्वदर्शनम्।
दुर्लभो सहजावस्था, सद्गुरोः करुणा बिना।
—महोपनिषद, ७७/१

गुरुपद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिय दृग दोष विभंजन।
—मानस, बाल० १/१

चेतना रूपान्तरण की ओर अग्रसर होने के लिए, वस्तु-विवेक-ज्ञान के प्रति जिज्ञासु होना प्रथम भूमिका मानी जा सकती है। भारतीय चिन्तन में 'गुरु' का कार्य एक माध्यमिक का कार्य बताया गया है; किन्तु यह माध्यमिक का कार्य मामूली कार्य नहीं है, लघु से विराट् का सम्बन्ध कराने का कार्य है, क्षर में अक्षर को प्रतिष्ठित करा देने का कार्य है। काया काष्ठ में अग्नि प्रज्ज्वलित भर कर देना है।१ इस प्रकार का बृहद् रूपान्तरण आध्यात्मिक जीवन की धुरी माना गया है। इस रूपान्तरण में चेतना परमता, व्यापकता अथवा 'राम' से जुड़ जाती है, नर को नारायण कर नगर' में नागरिकता मिल जाती है।२ जैसा कि महामति ने कहा है कि परम की 'पहचान' के लिये 'जागनी मन्त्र' अथवा 'अंकुर' के बाद 'धनी' के प्रति 'सम्बन्ध' का होना आवश्यक है और उसी सम्बन्ध को गोष्ठी-सत्संग के माध्यम से निरन्तर बनाए रखना आवश्यक है—

जो माहें निरमल बाहेर देखे न देखाई,
जाको परब्रह्म सो पहेचान।
महामत कहें संगत कर वाकी,
कर वाही सो गोष्ट ग्यान॥
—किरन्तन, २७/७

ए पहचाने सुख उपजे,
सनमंध धनी अंकुर।
महामत सो सुख कीजिए,
जो यों बरसावे नूर॥
—किरन्तन, १५/१२

वसुधा मांही बीज है,
त्यों आतम अंकुर।
ये सगन गुरु वर्षा बिना,
प्रकट न ह्वैं मा सुर॥
—रज्जब बा० ३/८१

---

१. सतगुर सांचा सूरिवां तावे लोहि लुहार।
कामणी दे कंचन किया, ताह्‌ लिया लसार॥
—० ग्रं०, १/२८

रज्जब आतम राम बिच, गुरु आशा सु दलाल।
ज्यों चकवा चकवी मिले, सूरज काटे साल॥
जीवरूपा जगदीश ने, बाध्या काया माँहि।
जन रज्जब मुक्ता किया, गुरु सम कोई नाँहि॥
—रज्जब बा० गुरुदेव०, ३/५०, ६२

रज्जब काया काठ में, प्रकटी आत्मा आग।
—वही, गुरुमाण्य, ५/१९

२. नारायण और नगर को रज्जब पंथ अनेक।
कोई आवे किहीं दिसि, आगे अलख पैक॥
—रज्जब बा०, ८६/१८

शिष्य की वृत्ति के रूपान्तरण में गुरु 'भृंगी कीट न्याय' को अपनाता है। गुरु भृंगी के बिना प्राण रूप कीट, कमल रूप ब्रह्म तक कैसे पहुँचा सकता है? १ दुनियादारी के चक्कर में पड़े हुए, रीति-नीतियों के बोझ से जड़ बने हुए सचल तौर के लिए अभेद्य पाषाणवत् शिष्य के प्राणों में, चेतना में व्यापक सचेतना का प्रवेश कैसे होता है, हो सकता है अथवा जैसे लोहा चुम्बक बन जाता है, जैसे पाषाण खण्ड देव प्रतिमा में शिल्पित होकर प्राणवान् की तरह आकर्षक होजाती है। सन्त कवि रज्जब ने गुरु को 'शिल्पी' (सराब) कहा है, जो पाषाण रूप प्राणी की वृत्ति पलट कर सात्विक भावमयी देवता बना देता है—

रज्जब प्राण पाषाण जड़,
गुरु सराब किये देव।
पैठो पित पलटे प्रथम,
सृष्टि से लागी सेव॥
षट् दर्शन सांसत है पड़यूं,
आतम लोढ़ी होय।
सु गुरु राजमूरति गढ़ै,
सो वन्दै सब कोय॥
—रज्जब बा०, ३/७२-७३

जो परमब्रह्म है उसकी प्राप्ति के लिए, उसे अनुभव में लाने के लिए, बिना दिशा-निर्देश के प्रयत्न निरर्थक सिद्ध होता रहता है और यदि गुरु से वृत्ति रूपान्तरण के बाद उस 'परमतत्' का बोध हो जाता है, तब स्वरूप अवस्थिति सहज ही बन पड़ती है। बिना उनके दिखाए पारब्रह्म 'दृष्टि' में नहीं आता। २ महामति का अभिमत है—

पारब्रह्म क्यों पाइए,
तलबिन कीजे उपाय।
जो ढूंढे माहे बाहेर,
बिना सतगुरु न लखाए॥
—किरन्तन, ३५/१६
संसै मिटाया सद्गुरु,
साहेब दिया बताए।
जो मेहेबूब वतन सरूप,
या मुख बरन्यो न जाए॥
—वही, ६५/१५

१. प्राण कीट गुरु भृंग बिन, ब्रह्म कमल क्यों जाय।
—रज्जब बा०, ३/६५

२. गुरु मूंदे नैन उघाड़िये, सूते लिये जगाइ।
जन सेवादास आनंदमय, सुख में रहे समाइ॥
—हरि० बा० (उत्तरा०) सेवा०, पृ० ११६

पलटू सतगुरु शब्द सुनि, हृदय खुला है ग्रंथ।
मगन भई मेरी माइजी, जब से पाया कंथ॥
—सन्त बा० संग्र०, भा० २, पृ० २२२

महामति प्राणनाथ के अपने सद्गुरु देवचन्द्र जी महाराज के द्वारा, शब्द, स्पर्श और संकेत आदि से जो प्राण स्फुरण हुआ, वृत्ति-रूपान्तरण हुआ, वैसे उदाहरण पुराणेतिहास में ध्रुव, नचिकेता, वाल्मीकि, अंगुलीमाल, भर्तृहरि के अथवा दयानन्द एवं विवेकानन्द जैसे भक्त-साधकों के और भी हैं। वृत्ति रूपान्तरण की इस प्रक्रिया में अनुगामी साधक शिष्य को करना क्या होता है, अथवा यों कहें कि गुरु के साक्षात्कार के बाद उसमें ऐसा क्या गुणात्मक परिवर्तन होता है जो शिष्य की नई सृष्टि ही कर देता है अथवा उसे नई दृष्टि प्रदान कर देता है? जैसा कि ऊपर बताया गया है समर्थ सद्गुरु, अनुगामी को वृत्ति जिज्ञासा अथवा श्रद्धा के अनुसार ही शास्त्र, विवेक, आत्मानुभव, परमात्मा अथवा यों कहें कि विराट् जीवन को आत्मसात कराकर ब्रह्मनिष्ठ कर देता है, १ संकीर्ण-जीवन के कलुष को बदलकर, ललकार कर चौड़े मैदान में सावधान करके खड़ा कर देता है। उसके बाद भी उसे, उसकी चेतना को जीवन्त गति मिलती है, जागृति मिलती है, वही, लोक में रहते हुये 'मुक्ति चेतना' है। जिज्ञासु को वहां तक पहुँचने के लिए तत्वदर्शियों के प्रति जो विनम्रता का, सेवा का तथा विवेक सहित जिज्ञासा अथवा प्रश्न करते रहने का स्वभाव अपनाना पड़ता है, उसी से स्वभाव में परम जीवन के प्रति एक अडिग आस्था आ जाती है। २ और इस आस्था से ही 'जीवन मूल्य' बनता है। इस जीवन मूल्य के निर्वाह के लिए, शिष्य अपनी चेतना में गुरु को ही 'खिवैया' संवाहक मानते हुये उनके शब्द रूप नाव के आश्रय से अपने अंतःकरण शोध का संवहन-सन्तरण करता हुआ अग्रसर बना रहता है। ३ तत्वदर्शियों के प्रति समर्पण में विवेक कहीं भी कुण्ठित नहीं होता। आचरण में ऐसा स्वभाव विनम्रता, खुशामद या चाटुकारिता नहीं मानी जा सकती। सेवा रहित 'नम्रता' का प्रदर्शन खुशामद के अन्तर्गत लिया जा सकता है। अतः सद्गुरु की सामर्थ्य

---

१. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।
—मुण्डकोपनिषद्, १/२/१२

२. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, ४/३४

३. कर्णधारं गुरुं प्राप्य तद्वाक्यं प्लववद् दृढम् ।
अभ्यास वासना शक्त्या तरन्ति भवसागरम् ॥
—योगशिखोपनिषद्, ५/७६

के अनुरूप ही शिष्य की पात्रता आवश्यक है। जैसे वर्षा के जल-संचय के लिए भूमि का 'निमान' अपेक्षित होता है, वैसे ही गुरु की वचनामृत-वर्षा की ऊर्जा को संचित करने के लिए चित्त भूमिका में विनम्रता का भाव आवश्यक है। किसी भी टीले पर जल एकत्रित होते हुये नहीं देखा जाता। शिष्य की पात्रता के लिए महामति का अभिमत है—

ताके पात्र होसी इन जोग,
या लीला को जो लेसी भोग।
केसरी दूध न रहे रज पात्र,
उत्तम कनक बिना जो पात्र॥
—प्रकाश हि०, ३३/१५

आज यह माना जाता है कि 'शब्द' खोखले होनेके कारण अर्थहीन अथवा अप्रभावी हो गये हैं। शायद ऐसा तो नहीं है कि शब्द-प्रयोक्ता और शब्द ग्राहक अपना सत्व चूक गए हों, शायद 'सीमित स्वार्थ' जिव्हा एवं कान दोनों इन्द्रियां ही, सामाजिक सन्दर्भ में अर्थहीन हो रहे हैं। कवि मनीषी के पास 'शब्द' ही औजार रहा है, जिससे वह रूढ़ि तोड़ने एवं सामाजिक की मानसिकता के परिष्करण का कार्य करता रहा है। कबीर 'शब्द' के अमोघ प्रभाव को महत्त्व देते रहे हैं—

सतगुरु साँचा सूरिवा,
सबद जु बाह्या एक।
लागत ही में मिल गया,
पड़या कलेजे छेक॥
—क० ग्रं०, १/७

सद्गुरु के शब्द प्रकाश के अन्तर्गत आने पर शिष्य का थोथा अहम् विगलित हो जाता है। 'आपा रहित' होने पर सद्गुरु की प्रधानता के कारण, सम्पूर्ण समर्पण के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता।[1] 'जानने' के लिए 'मानना' आवश्यक है। पिता का 'पितृत्व' कोई जान नहीं सकता। अतः मान लेना पड़ता है। अहङ्कार के रहते हुये 'तत् पद' में विश्वास असम्भव है तथा सूक्ष्म जीवन की अनुभूति तो और भी कठिन है। महामति कहते हैं कि अहङ्कार प्रतिपादित मत 'अक्षर' को नहीं चीन्ह पाते—

शास्त्र सबद भी अरथ न सूझे,
मत लिए चलत अहङ्कार।
आप न चीन्हे पर न सूझे,
सो चौदह भवन अंधार॥
—किरन्तन, ७/१०

१. गुरु गोविन्द तो एक है, दूजा यह आकार।
आपा मेट जीवत मरै, तो पावै करतार॥
—क० ग्रं०, १/२६
सिर सौंपे सोई पिवै, नहीं तो पिया न जाइ।
—वही, ६/३

आखिर यह 'सद्गुरु' करता क्या है, क्या कहता है, कैसे निर्देश देता है, क्या शिष्य की चेतना को गुलाम बना देता है ? यहाँ लोकाचार में 'कनफुँका' गुरुओं की बात बाद में करेंगे। पहले तो 'सद्गुरु' की बात है, चेतना रूपान्तरण की बात है। सद्गुरु तत्त्व मनुष्य के चैतन्य को अनावृत्त करता है। चेतन का वह अंश जो राग-द्वेष से मण्डित रहकर संकीर्ण ओछा बना रहता है, सद्गुरु अपनी वाणी, आचरण, कृपा से कुरेद-कुरेद कर उस आवरण को हटाने का प्रयत्न करता है, राख में छिपी चिनगारी को फूँक फूँक कर दीप्त करता है, प्रज्ज्वलित बनाए रखता है, उसे आत्मवान् होने का अनुभव कराता है। परम्परित शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि 'चेतना' जो मोहान्धकार के कारण घेरे-घेरे अथवा जरा-व्याधि और जन्म-मरण आदि की अवस्था में आबद्ध है, विभाजित है, उसे 'निज स्वरूप' का अनुभव करा देना ही 'गुरु का कार्य' है, दृष्टि को निर्मल कर देना ही गुरु का कार्य है। दृष्टि के अनावृत होने पर, पूरा दृश्य साफ-साफ दिखाई देने लगता है। ऐसी दृष्टि न मिलने पर, जैसे आँख रहते हुए भी, अन्धकार में हम कुछ नहीं देख पाते। परन्तु 'प्रकाश' के सकाश से हमें वस्तुएँ अपने रूप दिखाई देने लगती हैं, वैसे ही गुरु शब्द प्रकाश को पाकर दृष्टि-चेतना जिस शक्ति अथवा क्रियाशीलता का अनुभव करती है, वह देश काल की सीमा का विस्तार ही है, जिसमें विराटता का अनुभव होता है। यही तो महामति प्रतिपादित 'जाग', 'जागनी' अथवा 'जागृति' है। ऐसी जागृति के सम्पर्क में जो आता है, वह उनींदा या सोया हुआ नहीं रह सकता। ऐसी ही 'जाग' परम गुरु देवचन्द्रजी ने महामति प्राणनाथ को प्रदान की और महामति ने उस अनुभूत जागृति को, युग के सम्पूर्ण समाज, संस्कृति एवं धर्म-दर्शन में बिखेर कर दिया। उन्हें लगा कि उनकी दुनिया गफलत अथवा 'बेसुधि' में गुम है, चमत्कार के पीछे पागल है। उन्होंने अपने शब्दों से लोगों की चेतना की बाँह पकड़-पकड़ कर सावधान किया—

जागो रे जुग की ए कुल।
दुनिया मोह मद को छाको,
सबों भए बेसुध ॥
दुनी दुनी पे चाहे दुनियां,
सांचे करामात कुछ।
पीछे देखे बराबर सबी,
तब दे सिक्षा और मुँहे ॥

—किरन्तन, २१/१२

महामति का यह जागते-जागते रहने का क्रम ही 'जागनी-अभियान' बनकर सामने आता है। यह 'जागनी अभियान' गुरु प्रतिपादित मार्ग है, जो युग की अपेक्षाओं के अनुसार प्रचारित हुआ है। वैसे तो इसे उपनिषद् कालीन 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का आधुनिक

रूप मान सकते हैं। जागरण का यह अभियान भारतीय धर्म-चिन्तन में अत्यन्त प्राचीन युग से ही चला आ रहा है और इस चिन्तन का मूल बिन्दु है 'सद्गुरु'। 'बिना गुरु के ज्ञान नहीं' यह अवधारणा भारतीय जन-मानस में बहुत गहरी बैठी हुई है। चिन्तन में निष्कर्ष प्राप्ति के लिए ही सद्गुरु है, व्यवहार में आदर्श के लिए ही सद्गुरु है। ऐसा यदि नहीं होता तो 'अनवस्था दोष' (Fallacy of Infinite Regress) हमारे आचरण को, चिन्तन को आगे नहीं बढ़ने देता। किन्तु प्रणामी मत में इस जागृति को और व्यवस्थित ढङ्ग से प्रस्तुत किया गया है। यह 'जागनी' तीन रूपों में प्रतिपादित है—१. ब्रह्म सृष्टि की जागनी, यह प्रेम-भाव भूमिका में प्रतिष्ठित है, २. ईश्वरीय सृष्टि की जागनी, यह बोध एवं मधुर वचनों की भूमिका में प्रतिष्ठित है, ३. जीव सृष्टि की जागनी, यह राग-द्वेष जनित हठ और विवाद से प्रेरित बनी रहती है। अपने जीवन की सार्थकता, अपने अवतरण के अस्तित्व को सार्थक बनाने के लिए महामति एक अखण्ड भाव में, आनन्द भाव में जागृत करने की प्रेरणा देते रहे हैं। देखिए, यह जागनी आज के परिवेश-राष्ट्र और विश्व में स्वार्थ जनित भयावह संकीर्णता, में कितनी उपयोगी और अपेक्षित है—

जागो जगाऊँ जुगत सों,
छोड़ो नींद विकार।
पेहेचान कराऊँ पीउ सों,
सुफल करो अवतार॥

महामति ने ऊपर बताई गई तीन सृष्टियों की बात कही है, उनके विषय में इतना बता देना आवश्यक है कि 'ब्रह्म सृष्टि' में आत्म-ज्ञान लुप्त नहीं होता, सुप्त जैसा हो सकता है। इसीलिए ऐसे जीवन को जागृत करने में अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता। ईश्वरीय सृष्टि में यह प्रयास थोड़ा अधिक करना पड़ता है। जीव सृष्टि में तो जागृति के लिए प्रयास ही नहीं कठिन साधना करनी पड़ती है। इसीलिए यहाँ 'सद्गुरु' का होना ही पर्याप्त नहीं है, अनुगामी का सुयोग्य एवं जिज्ञासु होना भी आवश्यक है। मात्र राम की चरणधूलि ही नहीं, अहिल्या के समान पश्चात्ताप की तपन एवं गुणवान तपस्वी शिला का होना भी अपेक्षित है। यदि, मात्र एक ही सद्गुरु-शक्ति कारण होती तो एक ही सद्गुरु समस्त पृथ्वी को आत्मज्ञान से भर देता, उसके लिए जिज्ञासु रूप वसुधा को प्यासा और उर्वर होना अपेक्षित है, तभी 'अंकुर' फूट सकता है।[1] इसके लिए निस्वार्थ

१. सद्गुरु वर्षे मेघ ज्यों, रज्जब बहु फिर जाय।
बिन वसुधा ह्वै मेघ वश, ज्यों अगम अथाय॥

—रज्जब बा०, ३/१३७

सम्बन्ध, अहेतुकी प्रेम आवश्यक है। महामति कहते हैं कि 'मैं सीमित' उस महान् के गुण कैसे बखान कर सकता हूँ। हाँ, जागरण की अवस्था में नहीं, केवल यही भाव रह जाता है—

धनी के गुन मैं केते कहूँ,
मैं अकुलाते कहूँ बोहोते न कहूँ।
—प्रकाश हि०, ११/७

ओहि ओहि मारतो फिरौं,
और करौं हाए हाए रे।
पीउजी बिछोहा क्यों सहूँ,
जीवरा टूक टूक होय न जाय रे॥
—प्रकाश हि०, ६/१

सन्त-चेतना में गुरु का जितना गौरव-गान हुआ है, उनके महत् कार्य को स्वीकृति मिली है, वैयक्तिक साधना में जितनी आवश्यकता सिद्ध हुई है, उतनी ही कनफूंका और वंचक गुरुओं की भर्त्सना और उपेक्षा भी हुई है। साधना में जहाँ एक ओर 'बिना गुरु के ज्ञान नहीं, गति नहीं और बिना ज्ञान के द्विविधा अशान्ति एवं संशय शमन नहीं होते' निष्कर्ष एक स्वर से स्वीकृत है, वहीं वंचक गुरुओं से सावधान बने रहने की उद्घोषणा भी है, क्योंकि ऐसे नामधारी गुरु स्वयं तो कड़ाह में गिरते ही हैं, अनुगामी को भी ले डूबते हैं, क्योंकि उनका अज्ञान उन्हें तो उद्भ्रान्त किए ही रहता है, शिष्यों को भी दिग्भ्रमित करता रहता है। ऐसे गुरु अनुगामी को भक्ति के अनन्य या राजमार्ग पर न ले जाकर भ्रम की गुफा में प्रवेश कराए रखते हैं। इस लिए सच्चे गुरु की खोज जीवन में, जगत में कितनी कठिन है, दुस्साध्य है, यह समझा जा सकता है। साथ ही यह भी है कि ऐसे वंचक गुरुओं से आक्रान्त होने के कारण सच्चे गुरु की, सच्चे जीवन मूल्य की 'खोज' नहीं छोड़ देनी चाहिए। और किसी चमत्कार अथवा प्रभावावेश में आकर यह तथाकथित गुरु का शिष्य या अनुगामी होना वंचित होने अथवा वंचक होने का ही कोई रूप होता है। इसलिए चेतना में विवेक के 'कान' को हर समय सजग रखना होता है, क्योंकि, कहीं ऐसा न हो जाए कि मिथ्याभास के कारण 'सत्य' ही न उपेक्षित हो जाए अथवा 'मिथ्या' सत्य तो हो कर भासना करके न आ जाए। ऐसे वंचक गुरु 'परमता' की ओर न ले जाकर, नानाविधि शास्त्रों की बात करते हुये, चित्त में द्विविधा पैदा करके उसके बीच में स्वयं पूज्य बनकर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। ऐसे पर-उपदेश कुशल गुरु अनुगामी के लिए 'भेड़ की पूँछ' ही सिद्ध होते हैं। सच्चा साधु सद्गुरु की खोज में लगा रहता है, उपदेशक के वाग्-जालमें वह नहीं फँसता।१ महामति प्राणनाथ

१. ब्राह्मण गुरु है जगत का, साधू का गुरु नाहिं।
उरझि पुरझि करि मरि, रह्या, चारिउँ बेदों माहिं॥
औरों को उपदेशता, मुख में पड़िया रेत।
पूँछ न पकड़े भेड़ की, उतरया चाहे पार॥
—क० ग्रं०, २७/१०, १९, २०

ऐसे वंचक गुरुओं से निरन्तर सावधान करते रहे हैं। उनकी दृष्टि में जो स्वयं को पूज्य बताकर समाज में प्रस्तुत करते हैं, वे कितने आत्मघाती हैं, समाज-राष्ट्र के, जीवन मूल्य के वे कितने बड़े ध्वंसक हैं। देखिए—

पार ब्रह्म तो पूरन एक है,
ए तो अनेक परमेस्वर कहावें।
अनेक पंथ सबद सब जुदे जुदे,
सब कोई शास्त्र बोलावें॥
दुबिधा दिल में अवगुन ढूंढे,
गुन चित सों न लगावें।
भूले फिरें भरम में भटके,
अंग में आग धरावें॥
केते आप कहावें परमेस्वर,
केते करत हैं पूजा।
—किरन्तन, ७/७, १०

× × × ×

महामति की वाणी में ऐसे वंचक धर्म-गुरुओं पर तीखा प्रहार है। वे कहते हैं कि जो 'शास्त्र' का अर्थ-रहस्य तक नहीं जानते, वे शास्त्र की बातें करते हैं। शास्त्र-सिद्धान्त तो उनके अहंकार-प्रपंच का ही कोई बिम्ब होता है। ऐसे लोगोंकी 'कहन' उनके 'अनुभौ' अथवा आत्मबोध की देन नहीं होती। ऐसे कथाकथित धर्मगुरु मनोकामना पूर्ति के लिए 'करामात' दिखाते हैं और चमत्कार-प्रिय लोगों को ऐसे प्रपंची-ढोंगी गुरु 'मूड़ते' रहते हैं।

ऐसे कच्चे गुरु स्वयं को 'सिद्ध' घोषित करते हुए भगवान को ही बेचते फिरते हैं। महामति के शब्दों में ही देखिए—

'दुनी दुनी पे चाहे दुनिया,
तामें करामात ढूंढे।
पीछे दौड़ बराबर संगी,
तब ले सिक्का और डंडे॥
—किरन्तन, २१/२

गोविन्द के गुन गाए के,
तापर मागत दान।
धिक धिक पड़ो ते मानवी,
जो बेचत हैं भगवान॥
—किरन्तन, २६/४

× × × ×

ग्यान कथें गुन गाए आपके,
होहोकार मचावे।
—किरन्तन, ७/६

गुन अंग इन्द्री के बस परे,
तामें बांधत बंध अगाध।
—किरन्तन, २७/२

× × × ×

इस भेड़चाल में गुरु ही प्रपंची नहीं होते शिष्य भी स्वार्थी होते हैं। ऐसे दुष्ट शिष्य को यदि सच्चा गुरु ऊर्ध्वगामी करना भी चाहे, तो भी वे अधोगामी ही बने रहते हैं—

ए आगी उत्तम चढ़ावें ऊंचे,
ए उलटे अधम स्वादे।

कठिन पंथ चढ़ाए नहीं ऊँचे,
　　　पीछे नीचे दौड़े नीचे धावे ॥
　　　　　—किरन्तन, १३/१६

उक्त परिस्थिति में गुरु-निर्धारण, गुरु-निर्णय का एकमात्र आधार विचार अथवा विवेक ही है। इस विचार या विवेक के बल पर ही परिस्थिति को तोला जाता है। इसी सन्दर्भ में शब्द को शोधने की बात महामति कहते हैं—

तब खोज सबद को लीजे तत।
　　　तोल देखिए बड़ी केही मत।
जासों पाइए प्राण को आधार।
　　　सो क्यों खोए गँवावे रे गमार ॥
　　　　　—किरन्तन, ४/७

महामति जब यह कहते हैं कि 'विचार देखो रे बुधजन' तो यह जीवन-शोध के बल पर सद्गुरु की ही खोज है। यहाँ 'गुरुवाद' अथवा गतानुगतिकता की भेड़चाल को आँख मूँद कर स्वीकार करने की बात नहीं है, अपितु आँख खोलकर अस्वीकार करने की मुद्रा भी उभरी है। इस विरोध मुद्रा अथवा जीवन-मूल्यों की परख-कसौटी के आधार पर छल-छद्म, पाखण्ड अथवा रूढ़ियों-विकृतियों का विरोध-अस्वीकृति भी व्यंजित है। इस विरोध के लिए सत्यशीलता, आत्मनिष्ठता के साथ ही समर्पण की भावना ही सर्वोपरि है। इस जिज्ञासु समर्पण से ही 'सद्गुरु' की शोध सम्भव बताई गई है और खोजते-खोजते सद्गुरु प्राप्ति के फलस्वरूप अक्षरातीत प्रियतम परमात्मा के सम्बन्ध का 'अंकुर' फूट पड़ता है। चेतना की इस विराट्ता के कारण ही महामति साम्प्रदायिक संकीर्णता से बहुत ऊपर उठे हुए हैं। उनकी वाणी में सद्गुरु खोज के फलस्वरूप अनुभूत विराट्ता का ही तो परिणाम है कि उन्होंने धर्मशास्त्रीय शब्दार्थों-प्रतीकों के पीछे निहित अभेद दृष्टि को खोज निकाला है और लोक में व्यवहार के लिए उसका प्रतिपादन किया है। विराट्ता के प्रकाश में ही उन्होंने आत्मिक जीवन की पहली बाधा, अहंकार जनित 'ममत्व-परत्व' को शोध कर अज्ञान-तमिस्रा को आलोक में बदला है। इस आलोक जनित संस्कार द्वारा प्राप्त अभेद दृष्टि से सभी कुछ स्पष्ट सूझने की बात वे कहते हैं—

न्यारे से सरबे सूझ से,
　　　याथी अंधकार नो नास।

भेद दृष्टि पूर्वक देखने से सब ही कुछ भिन्न-भिन्न एवं विरोधी, खण्ड-खण्ड लगता है, किन्तु लीला और चेतना के बीच आने वाले विभिन्न स्तरों का अन्तर समाप्त होने पर विरोध मिट जाता है। लीला और चेतना के विभिन्न स्तरों को एकसूत्र में पिरोने के लिए ही तो महामति ने 'तारतम' ज्ञान दिया था। इस 'तारतम' में सभी धर्मों का सार-तम्य सहज ही हो जाता है। 'तारतम' ज्ञान

स्वरूप है, इसलिए उसमें भेद-दृष्टि नहीं रहती। अज्ञान और अहङ्कार के कारण भेद-दृष्टि रहती है। जो तारतम स्थापित कर सके, जो ब्रह्म एवं जीव के बीच पड़े तिनके की आड़ को हटा सके, वही तो 'सद्गुरु' है। महामति के शब्दों में ही सद्गुरु के प्रभाव को देखा जा सकता है—

शास्त्र ले चले सतगुरु सोई,
बानी सकल को एक अरथ होई।
सब स्यानों की एकमत पाई,
पर अजान देखे रे जुदाई॥
शास्त्रों से सबे सुध पाइए,
पर सतगुरु बिना क्यों लखाइए।
सब शास्त्र सबद सीधा कहे,
पर ज्यों भेद तिनकै आड़े रहे॥
सो तिनका मिटे सतगुरु के संग,
तब पारब्रह्म प्रकासे अखण्ड।
—किरन्तन, ४/३-५

यामें सतगुरु मिले तो संसे भाने,
पैंडा देखावें पार।
तब सकल सबद को अरथ उपजे,
सब भ्रम पड़े संसार॥
—किरन्तन, २३/७

अतः खोजते खोजते 'सद्गुरु' और सद्गुरु के साथही 'करतार', गुरु के साथही गोविन्द, लघु के साथही विराट्, व्यक्ति के साथ ही समष्टि जन के साथ ही जनार्दन का अनुभव, चेतना में आ जाना ही इस लघु जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि महामति ने बताई है। यह अनुभव ही प्राणनाथ जी की 'हीरा' वाणी है, जिसमें सारे विवेचक तत्व एक प्रेम-भाव में निमग्न हो जाते हैं—

सौ माला वाओ गले में,
द्वादस करो दस बेर।
जो लों प्रेम न उपजे पिउ से,
तो लों भव न छोड़े फेर॥
—किरन्तन, १४/५

ज्ञान प्रकास्या गुरु मिल्या,
सो जिनि वीसरि जाइ।
—बा० ग्रं०, ३/१३

अतः कह सकते हैं कि सद्गुरु की खोज-कृपा से ही मनुष्य को 'माया' अथवा द्विधा के जीवन से मुक्ति मिल सकती है और प्रशस्ति का 'एकरस' जीवन प्राप्त हो जाता है।१

१. श्रीरास, प्र० १/१२-१६

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग॥
जो रहीम मन हाथ है, मनसा कहुँ किन जाय।
जल में ज्यों काया परे, छाया भीजत नाहि॥

श्रीमद्भगवद्गीता का—

मूल संदेश

● श्री डा० विजयसिंह

मानव किन-किन साधनाओं से परम-शान्ति की उपलब्ध हो सकता है तथा इस शान्ति का स्वरूप क्या है, यही बतलाना श्रीमद्भगवद्गीता को अभीष्ट है। मनुष्य मात्र शान्ति-सुख का भागी बने, सम्पूर्ण समाज शान्ति भोगी हो, यही इस अमूल्य ग्रन्थ रत्नराज का मूल सन्देश है। भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र ने निम्न रूप में कहा है:—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासा-
ज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागा-
च्छान्तिरनन्तरम्॥

—१२/१२

अर्थात् साधन के रहस्य को जाने बिना किये गये अभ्यास से परोक्षज्ञान श्रेष्ठ है और परोक्षज्ञान से मुझ परमेश्वर का ध्यान श्रेष्ठ है तथा इस ध्यान से भी श्रेष्ठ कर्मों के फल का त्याग है, क्योंकि फलासक्ति रहित किये गये कर्मों से तत्काल परम शान्ति की प्राप्ति होती है।

तात्त्विक चिन्तन में किसी भी वस्तु का अधिभूत, अधिदैव तथा आध्यात्मिक स्वरूप का विवेचन किया जाता है। स्थूल रूप से शान्ति का अर्थ नीरवता, अनुपद्रव, तल्लीनता से है। यही अधिभूत स्वरूप शान्ति का रूप कहा जायेगा। स्वभावतः इन्द्रियाँ विषय सुखों की ओर मन को चलायमान किये रहती हैं। इन विषय सुखों में क्षणिक मानस-एकाग्रता स्थूल शान्ति का सृजन करती है, जहाँ व्यवधान हुआ, शान्ति अशान्ति में तत्काल परिवर्तित हो जाती है। अतः आज का व्यक्ति शान्ति की अभिलाषा में सार्वजनिक पार्कों में शरण लेता है। कहने का तात्पर्य, बाह्य शान्ति तभी तक है, जब तक मन उन विषय-सुखों में खुला हुआ है। कोई भी व्यवधान इस शान्ति को क्षणिक स्थिति में परिणित कर देता है। अतः अधिभूत रूप में शान्ति अत्यन्त अस्थिर परिणाम में दुःख को सजोती है, क्योंकि विषय-जनित मानस एकाग्रता ही इसका कारण है।

आधिदैविक रूप शान्ति का हम सभी मानव को कभी कभी जीवन में सन्तावस्था में अनुभूतिगत होता है। प्रातःकाल की नीरवता, समुद्र का किनारा, सुबह भास्कर का पदार्पण देखा, विहग कलरव और व्यक्ति के अधखिले मन इन्द्रियाँ अचानक कहीं खोने लगती हैं। इस परितृप्ति का स्रोत अन्दर से बाहर को प्रवहमान हो उठता है। पर्वत, समुद्र, प्रातः सायं, नीरवता यह सब उत्प्रेरक तत्व हैं मनुष्य में सात्विक भावों के जागरण के लिये।

इन्द्रियाँ स्थूल विषयों को त्यागकर पञ्चमहाभूतों के सूक्ष्म विषयों को ग्रहण करने के लिये मन को जब एकाग्र करती है तब जो शान्ति प्राप्त होती है अन्तः से बाह्य तक वही आधिदैविक शान्ति है। दूसरे शब्दों में एक सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त साधक सर्व ध्यान के काल में अपनी मानस क्षमता के कारण सदैव इस आधिदैविक शान्ति को प्राप्त होता है।

यथा सुअंजन अंजदृग
साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं सैल बन
भूतल भूरि निधान॥

परन्तु मानव को इस सात्त्विक शान्ति से भी पूर्ण तुष्टि नहीं मिलती क्योंकि मानव अनादिकाल से जिस अंश से बिछुड़ा है उसमें पुनः संयोजित होकर ही पूर्ण आत्मकामी बन पाता है। यह और बात है कि सत्त्व की परम शुद्धी की अवस्था जो आनन्दानुगत अथवा अस्मि के रूप में उदय होकर बहुत से साधकों को चरम सुख, चरम ज्ञानानुभूति के एक मोहक परन्तु पूर्ण यथार्थता से कुछ दूर की अवस्था में ही अटकाये रखती है। ऐसे साधक अपने को पूर्ण कृतकृत्य एवं ज्ञानी समझने लगते हैं क्योंकि सम्प्रज्ञात की ये उच्चतम अवस्थायें विदेह एवं जीवनमुक्तों की अवस्था ही जैसी हुआ करती हैं।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्र-
काशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति
ज्ञानसङ्गेन चानघ॥
—१४/६

अर्थात् निर्विकार सत्त्वगुण जो प्रकाश करने वाला अत्यन्त निर्मल होने के कारण सुख की आसक्ति से तथा ज्ञान की आसक्ति से साधक को बद्ध करता है अतः विशुद्ध चरम शान्ति जीव को आधिदैविक भावों में भी प्राप्त नहीं होती।

समस्त प्राणी सुख का ही अन्वेषण कर रहे हैं। परन्तु समाओ सुख है कहाँ? यह जीवन भर पहेली ही बना रहता है। भगवती गीता का कथन है—"शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्" यह शान्ति आयेगी कहाँ से क्योंकि साधना रहित व्यक्तियों के अंतःकरण में श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती, आस्तिक भाव नहीं होता सत्त्व नहीं होता तो शांति नहीं भी होगा और यदि शांति नहीं तो शान्तिके बिना सुख कहाँ?

भगवात्मा श्रीकृष्ण बताते हैं कि ऐसे श्रेष्ठ शांति प्राप्त कर सकता है—

तानि सर्वाणि संयम्य
युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
—२/६१

रागद्वेषवियुक्तैस्तु
विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा
प्रसादमधि गच्छति ॥
२/६४

प्रसादे सर्वदुःखानां
हानिरस्योप जायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु
बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
२/६५

अर्थात्—जिसने सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त, रागद्वेष से रहित हुआ इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ अन्तःकरण की निर्मलता को प्राप्त हो चुका है, उसने अपने सम्पूर्ण दुःखों का अभाव कर लिया है। जैसे सम्पूर्ण नदियों का जल समुद्र में समा जाता है, वैसे ही स्थिर बुद्धि वाले व्यक्ति के लिये सम्पूर्ण भोग विकार पैदा नहीं कर सकते। ऐसा व्यक्ति ही परम शांति को प्राप्त होता है। संक्षेप में—

विहाय कामान्यः
सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स
शान्तिमधि गच्छति ॥

शांति के चरमावस्था जिसे आध्यात्मिक शांति ऊपर कह चुका है, इसे प्राप्त करने के पश्चात् मानव आत्मकाम होता है। सारा अभाव रूपी दुःख व अशांति, सहज अहैतुक शांति परितृप्ति में परिणत हो उठती है। इस अविनष्ट, चिर शांति को, जितेन्द्रिय, तत्पर, श्रद्धावान, आत्मज्ञान को प्राप्त हुआ व्यक्ति ही जानता है और कोई नहीं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं
तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति
मचिरेणाधिगच्छति ॥
४/३९

यह तो हुयी आत्मज्ञानी की बात, आगे भगवान कृष्ण निष्काम कर्मयोगी (जो फल को परमेश्वर को अर्पण करके संसार में चलता है) जो अनासक्त है कर्मफलों में, वह भी परम शांति को प्राप्त होता है—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा
शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।

निश्चय ही, व्यक्ति योगी बनकर ही परमशांति को पाता है—

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्त-
थान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं
ब्रह्मभूतोऽधि गच्छति ॥
—५/२४

तथा—

भोक्तारं यज्ञतपसां
सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां
ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
—५/२९

जो ईश्वर-भक्त सर्व यज्ञों एवं तपों के फलों का भी भोक्ता ईश्वर को ही जानता है जिसे सम्पूर्ण भूत प्राणियों की सहृदयता प्राप्त है तथा जो सर्वभूतहितेरता है वह नश्वर सच्चिदानन्द परिपूर्ण शांति रूप ब्रह्म को प्राप्त होता है।

परम शांति ब्रह्म जीव ऐक्य का ही नाम है। चिरकाल से बिछुड़ा जीवात्मा स्वरूपबोध प्राप्त करके ही परम शांति को प्राप्त होता है। अतः परम शांति असम्प्रज्ञात समाधि—(कैवल्य अवस्था) में ही जीव को प्राप्त होती है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य
परमात्मा समाहितः।
शीतोष्ण सुखदुःखेषु
तथा मानापमानयोः॥
—६/७

युञ्जन्नेवं सदात्मानं
योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां
मत्संस्थामधिगच्छति॥
—६/१५

परम-शान्ति और आनन्द अन्योन्याश्रित है। योगी जिसका मन भली प्रकार एकाग्र है, पाप रहित है जो ब्रह्म साक्षात्कार को प्राप्त हो चुका है वही उत्तम आनन्द का भोक्ता है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं
योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं
ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
—६/२७

अतः श्रीमद्भगवद्गीता में, मुख्यतः जीव कैसे अपने यथार्थ स्वरूप को जानले, जिसके जानने से ही उसे सम्पूर्ण शान्ति मिल सकेगी, के बारे में विशेष रूप से निर्देशित किया गया है। जीव-ब्रह्म ऐक्य, आत्मबोध ज्ञान, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग, राजयोग, भक्ति-योग आदि का प्रयोजन जीव को आत्मज्ञानी बनाना ही है। इस अवस्था को प्राप्त हुआ मानव संसार के झंझावातों में रहता हुआ भी उससे अप्रभावित रहा करता है। इन्हीं का विकट क्लेश भी उसकी शान्ति को भङ्ग नहीं कर सकते है क्योंकि आत्म तत्व इन्द्रिय, मन, बुद्धि से भी परे है—

इन्द्रियाणि पराण्या-
हुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धियों
बुद्धेः परतस्तु सः॥
—३/ ४२

शरणागत अर्जुन को माध्यम बनाकर के भगवान ने हम सभी को आज्ञा दी है कि हम परमेश्वर की अनन्यशरण में तब उस परमात्मा की, सद्गुरु की कृपा से, परम शान्ति हमें अवश्य प्राप्त होगी—

तत्प्रसादात्परां शान्तिं
स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

✪✪

श्री सिद्धगुफा
बाहर ध्यान की तैयारी में उपस्थित दो साधक।

नवनिर्मित साधना भवन का एक दृश्य।

आश्रम भोजनालय से भोजन लेते हुये दो इटे-लियन साधक (जो साधना हेतु यहां आये हुये है)।

गऊ शाला का एक कक्ष सेवा संलग्न ब्रह्मचारी रामाश्रय एवं ब्रह्मचारी रतीराम।

गुरु और शिष्य

● श्री देवेन्द्र परमार्थी

सामान्यतया गुरु का अर्थ होता है 'गुरु' देने वाला। गुरु दो तरह के होते हैं प्रथम गुरु तथा दूसरे सद्गुरु। गुरु और सद्गुरु में वैसा ही अन्तर है जैसा एक नदी और महासागर में। जब बालक पठन-पाठन आरंभ करता है तो विद्यालय में शिक्षक से लेकर घर में माता-पिता सभी उसके गुरु कहलाते हैं दूसरी श्रेणी में आते हैं वे जो व्यक्ति मानव की अन्तर्निहित शक्तियों का परिचय उसे कराकर आत्मिक शान्तिप्रदान करते हैं। वह सद्गुरु कहलाते हैं। बिना सद्गुरु की सहायता के आत्मिक प्रगति सम्भव नहीं है। समस्त साधनाओं की सफलता सद्गुरु के मार्ग-दर्शन पर ही निर्भर रहती है. अध्यात्म पथपर शरीर-धारी सद्गुरु की भी अपने ढंग की आरम्भिक किन्तु महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वास्तविक गुरु बिना बोले ही अपनी महानता की पहचान स्वयं करा देता है वह शक्ति से परिपूर्ण होता है। अक्सर जनमानस में यह प्रश्न उठता है कि सद्गुरु कैसे हों और उनकी पहचान क्या हो ? इस विषय में विस्तृत में न जाकर संक्षेप में इतना ही कह देना मैं पर्याप्त समझता हूँ कि 'जो श्रुति के ज्ञान से युक्त हो, पाप रहित हो, कामना शून्य हो, श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो, ब्रह्मनिष्ठ हो, ईंधनरहित अग्नि के समान दीप्तिवान शान्त हो, अकारण दयालु हो और शरणमें आये हुए सज्जनों का हितैषी हो' वही होता है सद्गुरु।

नोट—आगे हम सद्गुरु को गुरु शब्द से सम्बोधित करेंगे।

इतनी विशेषतायें गुरु में हों और शिष्य में अपार श्रद्धा हो तभी आत्मिक प्रगति में सहायक होने वाला आदान-प्रदान सम्भव है।

मृग जैसे अपनी नाभि में छिपी कस्तूरी को न जानकर भटकता रहता है—यही दशा जीव की है। शेर का छोटा सा बच्चा जैसे भेड़ों के बीच में रहकर अपने वास्तविक रूप को भूला रहता है, वैसीही दशा जीव की है। आवश्यकता इस बात की है कि कोई सिंह उसे मिले जो अपने स्वरूप से उसे उसके वास्तविक रूप का उसके अस्तित्व का ज्ञान करा दे। इसी प्रकार सद्गुरु भी 'शिष्य' को उसके वास्तविक रूप का ज्ञान करा देता है।

मैं पूज्य गुरुजी के इस कथन से पूर्णतया सहमत हूँ कि 'गुरु व्यक्ति नहीं शक्ति है' क्योंकि गुरु कहीं पर शक्ति कहाँ तथा उनका अनुभवजन्य मार्ग दर्शन अत्यन्त आवश्यक है नहीं तो साधना के हर मोड़ पर भटकाव की प्रबल सम्भावना बनी रहती है। जब शिष्य गुरु की शक्ति से परिचित हो जाता है तब उस महापुरुष 'गुरु' का सारा ज्ञान स्वमेव उस पर प्रकट हो जाता है।

गुरु द्वारा अपनी शक्ति हस्तान्तरित करने वाले तेजबल द्वारा चक्षु, वाणी, स्पर्श से शिष्य की क्षमताओं को विकसित करने की घटनाओं का उल्लेख योग ग्रंथों में स्थान-स्थान पर आता है। शैव धर्म में तो शिष्य के

कल्याण का मूल कारण शक्तिपात को माना गया है। जिन शिष्यों को इसका लाभ नहीं मिल पाता उसका प्रमुख कारण कषाय-कल्मषों की अविद्या तथा अनुचित आचरण बताया गया है। जिसे गुरु की शक्ति नहीं मिली वह मुक्ति नहीं पाता है। अन्ततः वह कषाय-कल्मषों से आच्छादित अन्तःकरण लिए अविद्या तथा अनाचरण युक्त जीवन बिताता है।

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

अर्थात् जिस गुरु ने ज्ञान के अञ्जन की शलाका आँखों में लगाकर अज्ञान रूपी अन्धकार को मिटाया उन गुरुदेव को नमस्कार है।

सद्गुरु भी दो होते हैं। एक वह जो अन्तरात्मा में बैठे प्रेरणा देते रहते हैं, दूसरे वह जिन्हें विशिष्ट व्यक्ति के मार्ग दर्शक के रूप में वरण किया जाता है। महत्ता दोनों की है।

निरन्तर सद्शिक्षण और ऊर्ध्वगमन का प्रकाश दे सकना अन्तःकरण में विराजमान गुरु द्वारा ही सम्भव है। बाहरी 'शरीरी' गुरु हर समय शिष्य के साथ तो है नहीं, जबकि शिष्य के समक्ष विश्लेषण और निराकरण हेतु अगणित समस्यायें रहती हैं। इनमें किसका किस प्रकार समाधान किया जाये। ऐसे समय में इसका मार्ग-दर्शन मात्र अपना परिष्कृत अन्तःकरण कर सकता है। परन्तु मानव की दृष्टि स्थूल है इसलिए वह सूक्ष्म आत्मप्रेरणाओं को नहीं समझ पाती है। ऐसे समय गुरु अपने आत्म बल द्वारा शिष्य की समस्याओं का निराकरण करता है। गुरु शिष्य को अन्तर्जगत का पर्यवेक्षण कराते हैं। उनकी सामर्थ्य का बोध कराते हैं, सामर्थ्य जाग्रत तथा विकसित कर सुनियोजित करने के हर सम्भव उपाय बताते हैं। इसका लाभ शिष्य को आत्मबल तथा मनोबल के रूप में मिलता है। यही शक्ति शिष्य के देवासुर संग्राम में 'पवित्र तथा अनुचित मन' में विकारों को पछाड़ फेंक देने में सहायक सिद्ध होता है।

गुरु का यह अनुदान शिष्य अपनी आन्तरिक श्रद्धा के रूप में उठाता है। जिस शिष्य में आदर्शों और सिद्धान्तों के प्रति जितनी अधिक निष्ठा होगी वह गुरु के इस अनुदान से उतना ही लाभान्वित होता है।

शिष्य के आचरण में शील तथा व्यवहार में उदार आत्मीयता ही गुरु अनुग्रह की वास्तविक उपलब्धि है। जिस शिष्य में यह जितनी अधिक मात्रा में दिखाई पड़ती है अथवा मजबूत होती है, गुरु कृपा प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में उसे उसी अनुपात में मिली है।

हम सभी में अनन्त का दिव्य सौन्दर्य व्याप्त है जिसका अनुभव कराने के लिए गुरु हमें अन्तर्मुखी बना देते हैं। भगवान स्वयं गुरु के रूप में प्रकट होकर मानव को उपाधि भ्रान्तियों से मुक्ति दिला देता है। "हरी ओम तत्सत्" महामन्त्र भी गुरु की शक्ति से जाग्रत है शिष्य स्वयं को समर्पित करके ही उसकी शक्ति का अनुभव कर सकता है।

तेजोमय

हे परम शान्ति कुञ्ज !

तेजोऽसि तेजोमयि धेहि—

तुम तेज स्वरूप हो, मुझे भी तेजस्विता प्रदान करो। तुम्हारा तेज प्रकाश प्रकट हो, और तुम्हारी शान्ति का राज्य सबके लिए प्रकट हो।

हे परम सनातन तत्व !

शान्ति, स्थित-प्रज्ञता और निश्चल नीरवता में ही आत्मा की उपलब्धि निहित है। इन तीन शाश्वत गुणों से ही आत्मा अभिव्यक्त होगी, साक्षात् होगी।

हे परम चेतना के स्रोत !

तुम सम्पूर्ण चेतना हो, तुम सम्पूर्ण प्रेम हो, तुम्हारी चेतना सृष्टि मात्र, भूत मात्र और मनुष्य मात्र को चैतन्य बना रही है। तुम्हारा प्रेम सबके लिए है। वह सबके अन्तस्तल में देदीप्यमान है।

हे परम ज्योति के आधार !

हमें ज्योति पूर्ण बनाओ। हमारी आत्मा को अभिव्यक्त करो। हमारी चेतना को स्थिर करो। हमारी सम्पूर्ण चेतना तुम्हारे ध्यान में डूब जाय। ऐसी हमारी अभिलाषा तुम केवल तुम ही पूर्ण कर सकते हो। क्योंकि तुम पूर्ण है। हमारी अपूर्णता की पूर्णता केवल तुम से हो सकती है।

—ooooooo—

❀ गुण ग्रहण ❀

हे भगवन् !

मुझे बाह्य आधार के दिव्य संकेतों के ग्रहण की शक्ति प्रदान करो।

हे भगवन् !

मुझे स्वचित्त जीवन द्वारा सर्वभूत हृदयों से तादात्म्य और आत्म-साक्षात्कार की महान् स्थिति प्रदान करो।

— ओमप्रकाश मिश्रा

❀ यदि पल भर को तुम आ जाते ! ❀

❀ श्री नन्दकिशोर 'श्याम'

मेरे उर के निभृत-कुंज में,
यदि पल भर को तुम आ जाते !

युगों युगों से यहाँ निशा का,
छाया है सुनसान अँधेरा ।
जाने कौन बाट से जाता,
भूल इधर को सुखद सवेरा ।
खिल जातीं आशों की कलियाँ,
श्वासों का मलयानिल चलता ।
मेरे चन्द्र ! अगर मधु-रंजित,
उज्ज्वल किरणों को बरसाते ।

भटका हुआ पथिक है प्रभु पर,
तेरा ही मैं [illegible] हूँ ।
पारिजात ! मैं बिछुड़ गया हूँ,
पर तेरा ही मैं परिमल हूँ ।
तुम को पाने के प्रयत्न सब,
व्यर्थ हो चुके बारी बारी ।
तम में फँसी किरन की सपनी,
यदि प्रभु बाँह पकड़ अपनाते ।

भ्रमित और पीड़ित हूँ इतना,
कि स्मृति मिट गयी अपनेपन की ।
जिह्वा कहती हमीं सत्य पर,
पकड़ न जाती है बन्धन की ।
कर्म-करों से बुनी जाल यों,
वह इतनी दुर्भेद्य बन गयी ।
अपनी ही निर्मित कारा से,
हन्त ! आज हम छूट न पाते ।

तोड़ मोह माया का बन्धन,
नाता प्रभु से जोड़ न पाया ।
अपना तो क्या प्रभु का पथ भी,
निज कुटिया तक मोड़ न पाया ।
पर शरणागत में अपावनता,
प्रभु ने कब किसकी पहिचानी ।
सुना अनाथ नाथ जन-रंजन,
तुम हो असरण शरण कहाते ।

किसी अहेरी के बाणों का,
बिंधा हुआ मैं तो मराल हूँ ।
गौतम आज कहाँ प्राणेश्वर,
पड़ा हुआ मैं अति बिहाल हूँ ।
तुम सा और कौन करुणेश्वर,
द्रवित हो सके जो दुर्गत पर ।
यदि इन क्षत विक्षत अंगों पर,
प्रभु के कर-पल्लव पड़ जाते ।

तेरी अहैतुकी करुणा ने,
पापी कितने पार कर दिये ।
कितने दीन अकिंचन जन के,
प्रभु तुमने भण्डार भर दिये ।
छूट गया अपवाद जगत में,
एक यही प्रभु "श्याम" अभागा ।
पावन परम विरद में प्रभु के,
प्रश्न-चिह्न से हमीं दिखाते ।

शक्ति और सामर्थ्य-हीन मैं,
प्रभु घर तुम तक आऊँ कैसे ।
वैसाखी का लिये सहारा,
भव-वारिधि तर पाऊँ कैसे !
स्मृति से तेरी हुआ न पागल,
ऐसा तो पाषाण हृदय हूँ ।
कर कालुष्य हरण इस उर को,
यदि प्रभु निज आवास बनाते ।

अमृत और विष : आध्यात्मिक रहस्य

श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

पुराकाल में कश्यप नाम के एक प्रजापति थे। वे कश्यप सागर के तट पर रहा करते थे। शायद वह कश्यप सागर योरोप और एशिया के मध्यवर्ती मधुर जल युक्त महान सरोवर आधुनिक कैस्पियनसी ही हो। इसलिए इस पौराणिक गाथा को उस युग का स्मारक कहा जा सकता है क्योंकि आर्य जाति मध्य एशिया में निवास करती थी। कश्यप देव के दो स्त्रियां थीं—दिति और अदिति। दिति की सन्तान दैत्य और अर्थात् असुर हुए और अदिति के देव। पश्चिम में रहने वाली अनार्य जातियां दैत्य कहलाती थीं और आर्य जाति के लोग देव कहलाते थे। दैत्यों को संस्कृत में दानव भी कहते हैं। फारसी का दाना (बुद्धिमान) शब्द दानव का ही अपभ्रंश दीख पड़ता है। और फारसी में देव शब्द विशाल भयङ्कर व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है जिसे अंग्रेजी में (Giant) जायेन्ट कहते हैं। परन्तु योरोप की भाषाओं में देव शब्द ने अपना स्वतन्त्र सद्रूप ही रक्खा है। जैसे डिवाइन, डियु (Divine, Dieu) संस्कृत के इन दोनों शब्दों के विपरीत और विरोधी मनोवृत्तियों और संस्कृतियों पर प्रभाव डालते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इस गाथा का अर्थ समझने योग्य है इसलिए उसे समझा देना हम उचित समझते हैं। यह संसार एक महा सागर है, जो अनेक रत्नों की खान है। प्राकृतिक विज्ञान के विषय ही वे रत्न हैं जिनको प्राप्त करने के लिए ध्यान रूपी मथानी से उसका मथन किया जाता है। मथानी को घुमाने के लिए उस पर रस्सी लपेटी जाती है। पुरा युग में दैत्य और देवों ने वासुकी नाग से यह कार्य लिया था। मन ही वह वासुकी नाग है जिसने सारे जगत को डस रक्खा है। उसका मुख बहिर्मुखी और पूँछ अन्तर्मुखी है। मुख की ओर से असुर बाह्य विषयों की ओर खींचते हैं और पूँछ की ओर से देवगण अन्तरात्मा की ओर खींचते हैं। वृत्तियां भी आसुरी और दैवी विख्यात हैं। तब उस मन रूपी रस्सी को तानकर खींचने से ध्यान रूपी मन्थन प्रारम्भ होता है। आसुरी प्रवृत्ति वाले मनुष्य बहिर्विषयों पर ध्यान जमाकर भौतिक-विज्ञान के रहस्यों का उद्घाटन करते हैं, और देवता अन्तरात्मा की आध्यात्मिक खोज के लिए चिन्तन करते हैं। आत्म ज्ञान अमृत है और भौतिक विज्ञान में विष रहता है। आधुनिक वैज्ञानिक रहस्योद्घाटनों का फल नश्वर है और उनका प्रयोग जगत के विनाश के लिए ही अधिक किया जाता है। जहाँ तक उनका सम्बन्ध सांसारिक वैभव

गीता और कठोपनिषद्

* श्री शिवनारायण

गीता और उपनिषदों की भाँति यों ही आरम्भ नहीं हो जाती उसका आरम्भ भी कठोपनिषद् की भाँति अपने पीछे एक कहानी एक घटना का ताना-बाना बुना गया है। कठोपनिषद् का पात्र नचिकेता जिज्ञासु शिष्य है तो समाधान कर्ता, मृत्यु के देवता साक्षात् धर्मराज हैं। नचिकेता ही आत्मा है जो जीवन का अन्त मृत्यु, और वह भी अपरिहार्य मृत्यु में, तथा सांसारिक भोगों की असारता बता कर धर्मराज के द्वारा सम्भावित नाना भोगों की ग्राह्यता को नकारता हुआ कहता है—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्त-
कैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥
—कठ० १/२६

नचिकेता (जिज्ञासु) ने कहा, हे अन्तक, मृत्यु के स्वामी, ये सब जो तुम मुझे देने को कहते हो, मुझे इन सबको मुझे दे रहे हो, यह आकर्षण तो क्षणिक है कल तक (श्वोभाव) रहने वाला है आज है कल नहीं, यह सब तो इन्द्रियों के तेज को क्षीण करने वाले हैं। इन भोगों को भोगने के लिए समस्त जीवन

(पिछले पृष्ठ का शेष)

से है, वह भी यद्यपि मानव जाति के सुख की मात्रा बढ़ाने की इच्छा से किया जाता है परन्तु सुख की वृद्धि के साथ दुःखों की वृद्धि करता है। सुख दुःख दोनों बराबरी के साथी हैं। दोनों एक ही सिक्के (मुद्रा) के दो पार्श्व हैं और दोनों का मूल्य उस सिक्के के बराबर है। अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर दोनों से मुक्ति पाना ही अध्यात्म मार्ग का ध्येय है।

भगवान की मोहिनी माया बहिर्मुखी वृत्ति वालों को सदा अमृत पान से वंचित करती रहती है यहां तक कि शङ्कर भगवान की समाधि भी कभी-कभी भङ्ग हो जाती है। शङ्कर भगवान ने अमृतपान की इच्छा नहीं की, वे तो पूर्व से ही अमर थे और विष को पीकर भी वे नहीं मरे तो भी मोहिनी मूर्ति की प्राप्ति में वे भी कुछ समय के लिए व्याकुल हो गये यह मोहिनी माया इतनी प्रबल है। इसलिए मुमुक्षुओं को संसार सागर के रत्नों की प्रेमासक्ति छोड़कर तितिक्षा सहित दुःखों को सहन करते रहना चाहिए। आत्मा अमर है उसे कोई हलाहल मार नहीं सकता।

दुःखों से उद्विग्न न होना और सुखों की स्पृहा का त्याग करना ही स्थितप्रज्ञ का लक्षण है।

(मृत्युमेव) बहुत थोड़ा है। ये हाथी, घोड़े, यह नृत्य संगीत अपने ही पास रखो मुझे नहीं चाहिये क्योंकि—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि
त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥
—१/२७

मनुष्य धन से कभी तृप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि वह धन का सर्वदा भूखा ही रहता है। यदि मैंने तुझे पा लिया तो अर्थात् मृत्यु के रहस्य को समझ लिया तो धनधान्य सब प्राप्त हो जायेगा, हे मृत्यु के देवता, जब तक तू चाहेगा, तभी तक तो कोई प्राणी या हम जी सकते हैं, अधिक तो नहीं—मैं तो वही वर मांगता हूँ जो मैंने—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ती-
त्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनु-
शिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः।
—१/२०

मनुष्य के मर जाने पर क्या होता है कोई कहते हैं मनुष्य मरने पर भी बना रहता है, कोई कहते हैं नहीं रहता—मैं आप से इसका समाधान चाहता हूँ यही मेरा तीसरा वरदान मांगना है। मृत्यु के देवता यमराज ने कहा, हे जिज्ञासु! तू कोई नया प्रश्न, नयी जिज्ञासा, नहीं कर रहा—यह प्रश्न तो कितनी ही बार, "देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा" कठ० १/२१। देवताओं, विद्वानों ने उपस्थित किया है किन्तु यह समस्या "न हि सुविज्ञेय" १/२१। ऐसी है जो सुगमता से नहीं समझी जा सकती क्योंकि यह "अणुरेष धर्मः" १/२१। अणुधर्म है सूक्ष्म विषय है नचिकेता ने कहा "देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल" १/२२। यह माना कि पूर्व में देवताओं और विद्वानों ने जिज्ञासा की तो भी यह ज्यों की त्यों असमाधानित है, किन्तु आप तो स्वयं "त्वं च मृत्यो" मृत्यु हो, मृत्यु के अधिपति हो इसलिये "यन्न सुविज्ञेयमात्थ" १/२२। तुम से अधिक इस रहस्य को अन्य कोई नहीं जान सकता, इसलिये इस रहस्य को समझने वाला तुमसे अधिक वक्ता या उपदेशक "वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो" १/२२। मुझे नहीं मिलता अतः मुझे तो मृत्यु के रहस्य को जानना है यही अन्तिम निर्णय है।

उपरोक्त आख्यायिका में नचिकेता 'अज्ञानकार' आत्मा स्वरूप नचिकेता की भूमिका है और यमराज मृत्यु का अधिपति स्वयं परमात्म तत्त्व है। वाजश्रवस मुनि अन्य जिज्ञासी, जीवन में ही इष्टा और आपूर्त कर्मों का फल तथा अन्त में स्वर्ग भी पा लेने की इच्छा रखता है जैसा कि मुण्डक उपनिषद् में ऐसे लोगों के विषय में कहा गया है—

अविद्यायां बहुधावर्तमाना वयं कृतार्था-

इत्यभिमन्यन्ति बालाः। यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोका-श्च्यवन्ते। (मुण्डक उप २/९

भिन्न-भिन्न प्रकार से अविद्या में पड़े हुये बालक जैसी अस्थिर बुद्धि रखने वाले ये लोग, अपने को कृतार्थ मानने वाले, ये लोग अपनी करणी पर अभिमान से फूले फिरते हैं जो काम करते हैं उसका आरम्भ या अन्त न समझते हुए, उसमें अनुरक्त हो जाते हैं यह नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं ये सब दुःखी और विनाश के कारण होकर पतित हो जाते हैं। यथा—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्य-च्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं, लोकं हीनतरं वा विशन्ति। —मु० २/१०

किन्तु मूढ़ लोग इष्टापूर्त को, यज्ञहवनादि को, दानादि को, सब कुछ समझकर कहते हैं हमने सभी अच्छे काम कर लिये हैं वे कुछ और आगे कल्याण का मार्ग नहीं जानते। शुभ कर्म को तो उन्होंने जाना तक नहीं है और हीन तर लोक में पतित होकर गिरते हैं क्योंकि यह सब वास्तविक सुकृत नहीं है। प्रश्न होता है वास्तविक सुकृत क्या है—तो मुण्डक का कहना है कि ये सब तो इष्ट और आपूर्त कर्म हैं जिनका सम्बन्ध जन-कल्याण से है आत्म कल्याण से नहीं है, तो फिर आत्म-कल्याण का मार्ग कौन सा है मुण्डक कहता है—

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। —मु० २/११

जो तप, श्रद्धा से तपोवन में जाकर शान्ति से रहता हुआ भिक्षा के अन्न पर निर्वाह करता हुआ, आत्म कल्याण की ओर उन्मुख होता है वह सुकृत कर सद्गति पाता है।

यही स्थिति गीता की है, गीता में भी अर्जुन आत्मा और श्रीकृष्ण परमात्मा की भूमिका है गीता का प्रवचन युद्ध भूमि में किया जाने वाला प्रवचन, इतना गहन गंभीर ज्ञान नहीं हो सकता, कठोपनिषद् की भांति किसी आख्यायिका के माध्यम से किसी प्रश्न का उपस्थित होना आवश्यक होता है कठोपनिषद् का जिज्ञासु शिष्य मृत्यु का ग्रस्त होकर मृत्यु के देवता के पास जाकर उन्हीं को गुरु मानकर उन्हीं से शिष्य का मैं उस रहस्य को समझता है जो गीता—अर्जुन के विषाद में आत्मा और शरीर को एक इकाई मानकर अर्जुन को अपने स्वजनों, परिजनों, गुरुजनों के विनाश से कुल, परिवार, समाज के पतित हो जाने, वर्ण संकरता उत्पन्न होने का भय विषाद को उत्पन्न होता है इसलिये वह युद्ध द्वारा राज्य प्राप्त करने को हेय समझकर पाप मान लेता है और स्वधर्मा-नुसार स्वजन को भूल जाता है—गीता आत्मा की अमरता, शरीर का बार-बार जन्म और मरण की विनाश शीलता, कहकर उसे विवेचित क्रम से पुनर्स्थापित करता और उसे पाप नहीं कहता—युद्ध जैसे घोर क्रूर कर्म को न्यायोचित ठहराता है गीता का आरम्भ की घटना का अर्जुन-विषादयोग है, आधार है आरम्भ है। ✿

卐 यही हैं, यहीं हैं— 卐

श्री केशव उपाध्याय

क्या आप जानते हैं कि शीर्षस्थ उपरोक्त शब्दों का प्रयोग किसने, किसके लिये किया था ? उपरोक्त शब्द हैं, हमारे, आपके तथा प्राणीमात्र के भाग्य-विधाता, अकारण दयालु परम योग-योगेश्वर हमारे दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज के, जिन्हें उन्होंने अपने एक शिष्य से कहा था। इस घटनाक्रम का विवरण प्रस्तुत करना ही इस लेख का मुख्य लक्ष्य है, जिसमें श्री महाप्रभु जी ने उपरोक्त शब्दों का प्रयोग किया था।

सर्व शक्ति-सम्पन्न हमारे दादा गुरुदेव का सम्पूर्ण जीवन ही योग की अलौकिक घटनाओं से ओत-प्रोत रहा है। उनकी दीक्षा की विधि भी निराली ही थी। उन्होंने चलते फिरते न जाने कितने प्राणियों को दीक्षा देकर योग-मार्ग में लगाया एवं उन्हें यौगिक विभूतियों से परिपूर्ण कर दिया। अपने कल्याणकारी भ्रमणकाल में ही श्री महाप्रभु जी ने एक साधक को नासिक में योग-दीक्षा प्रदान की। उस समय श्री महाप्रभु जी का ब्रह्मचारी वेश था। योग-दीक्षा प्रदान करने के बाद श्री महाप्रभु जी ने कुछ दिन नासिक में ही प्रवास करने का विचार किया। इस अल्प-कालीन प्रवास काल में दीक्षित साधक ने उनकी अत्यधिक सेवा की। जब महाप्रभु ने अपने अन्यत्र जाने का विचार अपने उस शिष्य को बताया तो वह फूट-फूट कर रोने लगा। श्री महाप्रभु जी ने उसे बहुत धीरज बंधाया और कहा कि बेटा! बारह साल बाद हम तुमसे फिर मिलेंगे। शिष्य ने इस कथन पर शंका प्रकट करते हुए कहा—हे प्रभु जी! आप हमें भ्रम में डाल रहे हैं। उन्होंने कहा कि नहीं बेटा! हम बारह साल बाद तुमसे किसी तीर्थ स्थान में अवश्य ही मिलेंगे। इस प्रकार अपने प्रिय शिष्य को अनेक प्रकार से समझाकर श्री महाप्रभु जी अपने कल्याण-कारी भ्रमण के लिए आगे चल पड़े। अपनी प्रिय वस्तु को खोने पर जिस प्रकार प्राणी-मात्र उदास हो जाता है, उसी प्रकार उदास मन से शिष्य ने अपने प्रभु को विदा तो कर दिया पर नासिक में अपनी योग-साधना जारी रखी।

ग्यारह साल तक साधनामय जीवन व्यतीत करने के बाद, बारहवें साल के आरम्भ में ही शिष्य ने अपने प्राण-प्यारे की खोज करने के लिए तीर्थ यात्रा आरम्भ की। उन्हीं दयामय की कृपा से वह ऋषिकेश नगर में पहुँच गया। ऋषिकेश शहर के प्रत्येक मन्दिर तथा धार्मिक-स्थलों का दर्शन लाभ लेता हुआ वह अपने परिश्रम योग साधन आश्रम ऋषिकेश पहुँच गया। जिस समय उसने ऋषिकेश आश्रम के अन्दर प्रवेश किया, हमारे

दादा गुरुदेव अपने पण्डित वेश में आराम कुर्सी पर विराजमान थे तथा उनसे कुछ दूरी पर दीवाल के सहारे उन्हीं का ब्रह्मचारी वेश का एक स्वरूप भी टँगा हुआ था। कुछ साधक समुदाय भी भगवान शिव के गणों की भांति इर्द-गिर्द उपस्थित था, जो अपने आराध्य के मुखारविन्दु का अवलोकन कर रहा था। नासिक वाला ब्रह्मचारी भी इस समुदाय में उपस्थित था, बिना किसी उचित अभिवादन के, दिवाल पर स्थित स्वरूप को उसने प्रणाम किया तथा उसी स्वरूप को इङ्गित करते हुये उसने कुर्सी पर विराजमान श्री महाप्रभु से प्रश्न किया कि यह स्वरूप तो हमारे सर्व समर्थ गुरुदेव भगवान का है, तुम्हें कहां से मिला है? आनन्दकन्द श्री महाप्रभु जी ने उसकी तरफ देखकर अपनी सहज मुस्कान से उत्तर दिया, यह तो हमारा ही फोटो है। श्री महाप्रभु जी की सत्य बात को असत्य समझते हुये उसने कहा कि, अरे पण्डित जी ठठोली न कीजिये। आप यह बतलाइए कि आप को यह स्वरूप कहां से मिला है? श्री महाप्रभु जी ने फिर अपना वही उत्तर दुहराया और कहा कि यह तो हमारा ही फोटो है। बात यहाँ यह थी कि श्री महाप्रभु जी तो सत्य बात ही उसे बता रहे थे, परन्तु उस साधक को, जिसने उनकी यौगिक विभूतियों का कुछ अनुभव भी किया था, वेश-भेद (ब्रह्मचारी वेश और पण्डित वेश) के कारण उन श्री महाप्रभु जी की बातें उसे असत्य प्रतीत हो रही थीं। अपने प्रश्न का दूसरी बार भी वही उत्तर सुनकर कि यह हमारा ही फोटो है, उस साधककी श्रद्धा को ठेस लगी और उसने क्रोधावेश में कहना आरम्भ किया, "तुम्हें शर्म नहीं आती, पण्डित होकर असत्य बोल रहे हो। हमारे सर्व समर्थ और सर्व शक्तिमान गुरुदेव के स्वरूप को एक तो तुम फोटो कह रहे हो और दूसरी बात यह कि तुम यह कह रहे हो कि यह तुम्हारा ही है। मजाक छोड़कर पण्डित जी यह बतलाइये कि यह स्वरूप आप को कहां से मिला है? कहीं से चोरी तो नहीं कर लाये हो।" लीलाधारी की लीलाओं का अन्त कहां। शायद, ऐसा लगता है कि उन्होंने आज अपने ही शिष्य से अपशब्द सुनने का संकल्प कर ले लिया हो।

शिष्य ने एक बार फिर प्रश्न किया कि पण्डित जी बिल्कुल सही बात बतलाइए कि यह स्वरूप तुम्हें कहां से मिला है? श्री महाप्रभु जी ने उसके प्रश्न का उत्तर नपे-तुले शब्दों में देते हुये अपनी मधुर मुस्कान के द्वारा उससे फिर कहा कि मैं बिल्कुल सत्य बतला रहा हूँ, यह हमारा ही फोटो है। अब की बार महाप्रभु जी के मुख से यह उत्तर सुनकर उसका शरीर क्रोध से तिलमिला उठा और बोला, लगता है तुमने झूठ बोलने का ठेका ले रखा है। मेरे बार-बार आग्रह करने पर भी तुम सत्य बात नहीं बतला रहे हो। ऐसा

प्रतीत होता है कि हमारे सर्व समर्थ गुरुदेव का स्वरूप तुमने कहीं से चुरा लिया है, इसी के सहारे तुम्हारी रोजी रोटी चलती है अतः तुम सत्य बात को छिपाकर बार-बार यही कह रहे हो कि यह तुम्हारा ही फोटो है। कहाँ सर्व शक्तिमान परम योगि-योगीश्वर हमारे गुरुदेव श्री महाराज और कहाँ पण्डित वेश-धारी एक साधारण मनुष्य तुम।

प्रभु की क्या माया है, उनका ही बच्चा वेश-भेद के कारण, उन्हें बार-बार अशोभनीय शब्दों द्वारा सम्बोधित कर रहा है, और वे सर्व समर्थ प्रभु अपने सहज स्वरूप में आराम कुर्सी पर बैठे मुस्करा रहे हैं। यह उन माया-पति की माया ही कही जायेगी कि शिष्य के मन में यह बात बिल्कुल ही न जमी रही थी कि उसके सर्व समर्थ गुरुदेव ने ठीक बारह साल बाद उसे किसी तीर्थ स्थान में दर्शन देने का वचन दिया था। आज ठीक बारह साल बाद वे अपने शिष्य को दिये गये वचन को पूरा कर रहे हैं।

शिष्य का मन भ्रमित था तथा इस तथ्य को समझ नहीं पा रहा था कि यह पण्डित जी ही उसके सर्व समर्थ गुरुदेव हैं। उस समय ऋषि-केश आश्रम में उपस्थित उनके बच्चों को इस नये आगन्तुक की अशिष्ट बातें बिल्कुल ही नागवार लग रही थीं, क्योंकि श्री महाप्रभु जी के लिये वह बार-बार अशोभनीय शब्दों का प्रयोग कर रहा था। उनमें से कुछ के धैर्य ने सहन की सीमा पार कर ली और वे लोग अपने प्रभु के प्रति प्रयोग किये गये शब्दों के लिये नवागन्तुक से मारपीट करने पर उतारू हो गये। परन्तु लीलाधारी प्रभु ने उन्हें इशारे से शान्त किया। श्री महाप्रभु जी बार-बार अपने नासिक में दीक्षित बच्चे से यही कहते थे कि यह फोटो हमारा है और उनका वह बच्चा उनके इस उत्तर पर उन्हें बार-बार अपने दुराग्रहवश अशोभनीय शब्दों का प्रयोग करता रहा। अन्त में अपने शिष्य की व्याकुलता तथा अपने गुरुदेव के प्रति, अपने शिष्य की आन्तरिक श्रद्धा देखकर दयानिधान ने योग लीला का प्रदर्शन किया। अपनी बात की सत्यता को प्रमाणित करने के लिये उन्होंने, उसे देखते ही देखते अपने को ब्रह्मचारी वाले वेश में बदल लिया तथा फिर एक क्षण बाद ही पुनः पण्डित वेश में बदल लिया। यह सब इतना उसकी आँख के सामने ही घटित हुआ और उसे लगा कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ। वह चकरा सा गया। उसे यह भान नहीं हो पा रहा था कि मैं जो देख रहा हूँ वह सत्य है या स्वप्न है। अन्त में उसने कहा कि महाराज मैं समझ नहीं पा रहा हूँ, आप कह रहे हैं कि यह आपका फोटो है और मैं यह स्पष्ट देख रहा हूँ कि यह स्वरूप हमारे योगेश्वर गुरुदेव जी का है जिन्होंने हमें नासिक में योग-दीक्षा दी थी।

दयानिधान श्री महाप्रभु जी ने अपनी

योग-माया को खींचते हुये उससे कहा कि दीक्षा के बाद तुम्हारे गुरुदेव ने तुमसे क्या कहा था। साधक ने पूरी बात बतलाते हुये कहा कि उन्होंने गुरुमन्त्र जाप करने तथा ध्यान लगाने का आदेश दिया था, उसने निवेदन किया कि जाते समय मेरी व्याकुलता को देखकर उन्होंने मुझे धीरज बंधाया तथा आदेश दिया था कि बारह साल बाद वे फिर मिलेंगे।

उसकी यह पूरी बात सुनकर महाप्रभु जी ने उससे कहा कि तुम ध्यान लगाते हो, उसने कहा कि हां! इसके बाद उन्होंने उसे आदेश दिया कि ध्यान लगाकर इस समस्या का समाधान निकाल लो कि, मेरी बात सत्य है या तुम्हारी बात सत्य है।

श्री महाप्रभु जी के आदेशानुसार वह वहीं तत्काल ध्यान में बैठ गया। ज्योंही उस के मन की एकाग्रता बनी उसे स्पष्ट आकाश-वाणी सुनायी दी,

शिष्य के आनन्द की सीमा का क्या पूछना। तत्काल ध्यान से उठकर प्रभु के चरणों में दण्डवत् गिर पड़ा। उसकी आँखों से अविरल अश्रु-धारा बह रही थी। वह साधक फूट-फूट कर रोने लगा। प्रभु भी मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे। परन्तु प्रभु ने अपनी माया से एक बार पुनः उसे भ्रम में डालते हुये कहा, ये क्या कर रहो हो! तुमने ध्यान में क्या देखा! उसने कहा कि मैं समझ गया। उन्होंने कहा कि क्या समझे! हमें भी तो बतलाओ।

उसने बतलाया कि आकाशवाणी हुयी है कि आप ही हमारे सर्व समर्थ गुरुदेव हैं। उस ने फिर साष्टांग प्रणाम किया। श्री महाप्रभु जी ने कहा कि तुम्हें आकाशवाणी में क्या शब्द सुनाई दिया। उसने निवेदन किया कि मुझे स्पष्ट आकाशवाणी सुनाई दी है कि "वही है, बारह साल बाद मिले हैं; फिर नहीं मिलेंगे।"

प्रभु ने थोड़ा भाव बनाकर कहा कि यही तो तुम नहीं समझ सके। कहाँ तुम्हारे सर्व समर्थ ब्रह्मचारी वेश धारी योगीश्वर गुरुदेव और कहाँ साधारण आश्रम का ग्रहस्थ पंडित वेश धारी मैं! मुझे लगता है कि तुम्हारे गुरु-देव ने जो बारह साल बाद तुम्हें दर्शन देने का वचन दिया था, वह समय अब करीब आ गया है और उसी की ही आकाशवाणी तुम्हें सुनाई दी है। परन्तु तुम भूल रहे हो, आकाश-वाणी यह हुयी होगी कि, "वही है, बारह साल बाद मिले हैं, फिर नहीं मिलेंगे।" श्री महाप्रभु ने उसकी आकाशवाणी का शब्द ही उससे कहा, केवल मात्र 'वही को यही' में बदलकर कहा। फिर इसके बाद उसे आकाश-वाणी का अर्थ समझाते हुये बोले, आकाशवाणी का अर्थ है, यही है, यही का मतलब ऋषि-केश समझो। तुम्हारे गुरुदेव इस समय ऋषि-केश में ही हैं, उन्होंने आगे समझाया कि बारह साल हो गये हैं, जल्दी मिल लो, फिर नहीं मिलेंगे।

ईश्वर-गीता

✿ श्री बृजमोहनलाल शर्मा

बहुत से मनुष्य, जो संस्कृत साहित्य से अच्छी तरह परिचित नहीं, समझते हैं कि केवल भगवद्गीता ही एक गीता है। इस में कोई सन्देह नहीं कि गीताओं में भगवद्गीता सर्वोत्तम है परन्तु केवल एक वही गीता नहीं है। कितनी ही और गीतायें भी हैं। अष्टादश पुराणों में से प्रत्येक पुराण में एक या एक से अधिक गीतायें मिलती हैं। इस के अतिरिक्त महाभारत, योग-वशिष्ठ, अध्यात्म-रामायण आदि ग्रन्थों में भी गीतायें हैं। उदाहरणार्थ कुछ गीताओं के नाम नीचे लिखे जाते हैं—

१- भगवद्गीता, २- ईश्वरगीता, ३- देवीगीता ४- शिवगीता, ५- गणेशगीता, ६- रामगीता, ७- कपिलगीता, ८- अष्टावक्रगीता, ९- अवधूत-गीता, १०- ब्रह्मगीता, ११- सूर्यगीता, १२- यमगीता, १३- हंसगीता, १४- पाण्डव-गीता, १५- व्यासगीता, १६ अनुगीता, १७- उत्तरगीता १८- भिक्षु-गीता (अद्वैतवाद)

गीतायें आध्यात्मिक ज्ञान के भण्डार हैं। उनमें ऊँचे से ऊँचे धार्मिक विचार, गम्भीर से गम्भीर दार्शनिक तत्त्व, शुद्ध से शुद्ध भक्ति-भाव भरे हैं। उपाधियों को हटाकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप का आविष्कार करना, वासनाओं को पवित्र बनाना, इन्द्रियों को वश में करके बुद्धि को स्थिर करना, मायाजाल को काट कर सच्चिदानन्द परमात्मा के दर्शन कराना—यही सब गीताओं का उद्देश्य है। वेदान्त, सांख्य और योगदर्शन के तत्त्व उनमें निहित हैं। उपनिषदों के पवित्र विचारों की दिव्य प्रभा से वे प्रकाशित हैं। नित्य पाठ करने योग्य हैं क्योंकि उनसे बढ़ कर अध्यात्म विषय की बहुत कम पुस्तकें हैं।

(शेष पृष्ठ ७५ का)

प्रभु जी योग माया के समक्ष बेचारे का नाश हो गया था। उसने तत्काल श्री महाप्रभु जी को प्रणाम किया एवं अनन्य गुरु-भक्ति तथा श्रद्धा से परिपूर्ण होकर व्यग्र मन से अपने ब्रह्मचारी वेशधारी सर्व समर्थ गुरुदेव की तलाश में ऋषिकेश की सड़कों पर निकल गया। फिर प्रभु जाने उसका क्या हुआ? क्या होगा! उसने अपने गुरुदेव की कृपा से ध्यान की विधि तो जान ही ली थी, स्थूल से न सही, ध्यान में तो अपने गुरुदेव के दर्शन का लाभ तो उसे बराबर मिलता ही रहा होगा। श्री महाप्रभु की यह घटना जब-जब याद आती है, यह पंक्तियाँ मन अनायास ही गुनगुनाने लगता है:—

" सारे जग को वही नचाते,
तुमको वही नचायेंगे।
जैसे ही नाचोगे लाला,
जैसे प्रभु नचायेंगे॥"

यदि इन सब गीताओं की समालोचना की जाय तो एक विशाल पुस्तक बन जाय। अतएव इस लेख में केवल 'ईश्वर-गीता' का ही कुछ वर्णन किया जाता है।

"ईश्वर-गीता" कूर्मपुराण का एक अंश है। इसमें ग्यारह अध्याय और ४८६ श्लोक हैं। श्लोक अनुष्टुप वृत्त के हैं। कहीं कहीं और वृत्त भी हैं। इसके प्रधान देवता भगवान शंकर हैं।

"ईश्वर-गीता" का कथन पहले पहल भगवान विष्णु ने अपने कूर्मावतार में किया था। अनन्तर इसी शिवजी ने बद्रिकाश्रम में नर-नारायण के सामने सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, अंगिरा, भृगु, कणाद, कपिल, गर्ग, वामदेव, शुक और वसिष्ठ ऋषियों को सुनाया इन ऋषियों से और और ऋषियों ने इसे सुना।

इसी प्रकार परम्परा से यह व्यास जी को प्राप्त हुई। व्यास जी ने शौनकादि को सुनाई, इस समय जो "ईश्वर-गीता" प्राप्त है वह व्यास जी की ही कही हुई है।

इस गीता के उपदेश के आधार वेदान्त, सांख्य और योगशास्त्र हैं। इन तीनों को मथ कर उनका निचोड़ इसमें रख दिया गया है तथापि इसमें वेदान्त-विचारों की अधिकता है। आत्मा और ब्रह्म की एकता स्पष्टता-पूर्वक बुद्धिमत्ता से दिखाई गई है।

दूसरे, तीसरे, छठे और सातवें अध्याय तथा चौथे और नवें अध्याय के कुछ अंशों में आत्मा, परमात्मा और उनकी एकता का विषय वेदान्तानुसार वर्णन किया गया है। आठवें अध्याय में और तीसरे तथा सातवें अध्याय के कुछ अंशों में सांख्य सम्बन्धी प्रकृति पुरुष और उनके द्वारा संसारोत्पत्ति का विवरण है। ग्यारहवें अध्याय में केवल योग का विषय है। पांचवें अध्याय में परमात्मा स्वरूप भगवान शिवजी की स्तुति बड़े ही भावपूर्ण प्रभावशाली वाक्यों में की गई है। दसवें अध्याय में ईश्वर के भक्तों और प्रियजनों के लक्षण बताये गये हैं। मोक्ष का स्वरूप भी यहीं बताया गया है।

इस गीता में धार्मिक विचारों की गूढ़ता दार्शनिक विषयों की गम्भीरता, भक्ति-भावों की निर्मलता और हार्दिक भावों की उदारता खूब ही दिखाई गई है। इसमें सभी धर्म अच्छे कहे गये हैं। किसी की निन्दा नहीं की गई है। सभी धर्मानुयायी परम पद को पहुँच सकते हैं। ईश्वर की उपासना अनेक प्रकार से हो सकती है। इसके लिये सभी मार्ग खुले हुए हैं। उसकी प्राप्ति सभी मार्गों से हो सकती है। जो शुद्ध भाव से फल, फूल पत्रादि भेंट करता है उसे ईश्वर ग्रहण करता है। मनुष्य चाहे जिस मार्ग से उसकी उपासना करे क्योंकि सभी मार्ग अच्छे हैं। तथापि "भक्ति-मार्ग"

सब से सरल और साध्य है। मोक्षोपलब्धि में यह बहुत उपयोगी है। अतएव इस मार्ग की विशेषता से प्रशंसा की गई है।

भगवद्‌गीता और ईश्वर-गीता में बहुत सी बातें मिलती हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख यहां किया जाता है—

१- सांख्य और योग दोनों एक ही हैं। इनमें भिन्नता नहीं। जो इन में भिन्नता समझता है वह ज्ञानी नहीं।

२- ईश्वर प्राप्ति सभी मार्गों से हो सकती है। अपने भक्तों को ईश्वर सभी मार्गों से स्वीकार करता है।

३- सभी मार्ग अच्छे हैं परन्तु भक्ति-मार्ग सब से सरल उपयोगी है।

४- दोनों गीताओं में सृष्टि की उत्पत्ति, सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों के अनुसार ही कही गई है।

५- भगवद्‌गीता में जैसे श्रीकृष्णजी ने विश्व-रूप दिखाया है वैसे ही 'ईश्वर-गीता' में शिवजी ने दिखाया है। इन दोनों विश्व-रूपों का वर्णन एक सा है।

६- विश्वरूप देखने पर जैसी दीन प्रार्थना अर्जुन ने की है वैसी ही ऋषियों ने विश्व-रूप देखने पर की है।

७- भगवद्‌गीता में श्रीकृष्ण ने अपनी विभूतियां सारे संसार में बताई हैं। 'ईश्वर-गीता' में महादेव जी ने भी अपनी विभूतियां दिखाई हैं।

८- आत्मा और ब्रह्म का स्वरूप दोनों गीताओं में एक ही सा वर्णन किया गया है।

९- परमात्मा की सर्व व्यापकता, सर्वज्ञता, विश्वरूपता, अनादिता, अनन्तता दोनों गीताओं में एक सी कही गई है।

१०- ईश्वर के भक्तों के लक्षण दोनों में एक ही से हैं।

११- मोक्ष का वर्णन भी एक ही सा है।

१२- दोनों ही गीताओं में निष्काम कर्म करने का उपदेश है। मनुष्य जो कुछ करे उसे ईश्वर के लिए करे। अपने सभी काम ईश्वरार्पण कर दे।

१३- संस्कृत दोनों गीताओं की एक सी है— अर्थात् सरल, सरस और मनोहर है। बड़े बड़े समास अथवा अलङ्कार, जो पीछे के ग्रन्थों में मिलते हैं, इनमें नहीं हैं।

इनसे तथा और कारणों से यह कह सकते हैं कि यह गीता भी उतनी ही प्राचीन है जितनी कि भगवद्‌गीता है।

'ईश्वर गीता' में छठा और ग्यारहवां अध्याय विलक्षण ही है। छठे में ईश्वर के उपस्थापन का महत्व और प्रभाव दिखाया गया है। यह अध्याय अनेक बार पढ़ने योग्य है।

ग्यारहवें अध्याय में राजयोग का सविस्तार वर्णन है। उसकी आवश्यक साधन और क्रियायें अच्छी तरह लिखी हैं। योग का ऐसा वर्णन और किसी गीता में नहीं है।

योग-पथ पाथेय

❀ ब्रह्मलीन योगी त्यागमूर्ति श्री सियाराम महाराज

'त्याग' और 'वैराग्य' का भेद जानकर 'वैराग्य' को पकड़कर उसे बढ़ाना और दृढ़ करते जाना चाहिये, क्योंकि वैराग्य के बिना 'यथार्थ शान्ति' नहीं मिलती। मनुष्य प्रायः अरुचिकर पदार्थों का त्याग करता है और रुचिकर पदार्थों को पकड़े रहता है, यह त्याग भी 'अधूरा' है, वैराग्य तो है ही नहीं। रुचिकर पदार्थों में बनी 'कामना-आसक्ति' की जड़ में अशान्ति और क्लेश छिपे रहते हैं।

२—'कामना' को उखाड़ फेंकने में सफल साधन 'विवेक' और 'परमवैराग्य' जैसा दूसरा साधन नहीं, 'उन जैसा सखा, रक्षक और कष्ट-विमोचक नहीं, तथा काम-क्रोध-लोभ-मोह-भय-अहङ्कार और इन के साथी आशा-निराशा-शोक-चिंता-हतोत्साह-आलस्य-प्रमाद जैसा मानव का दूसरा महान रिपु नहीं है', जो मनुष्य के पाथेय-रूप 'धर्म-सुकर्म-पुण्य-अभ्युदय-विवेक-आध्यात्मिक-तेज-वैराग्य की शक्ति एवं मोक्ष तक का हरण-अपहरण कर लेते हैं'।

३—कभी भी किसी की भी सब कामनाएँ पूर्ण नहीं हुयीं—न होती हैं और न होंगी, अतः इनके 'स्रोत' को ही 'विवेक' से सुखा डालना चाहिये—'सुखा डालो'। इनको पनपने देना क्लेश का कारण एवं 'अज्ञान' है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' का भाव यह है कि—'विषयों में सुख है ही नहीं' ऐसा सुनिश्चित ज्ञान ही मोक्ष देता है—मोक्ष दिलाता है, इसके बिना मोक्ष नहीं होता।

४—दुःखदायी पदार्थों का त्याग तो पशु भी करते हैं, अब कष्टदायक—अरुचिकर पदार्थों के किसी 'त्यागी' के लिए इस में गर्व की—गौरव की क्या बात है? संसार को दुःखदायक समझ कर त्यागा तो इसमें शूरता क्या हुई? यदि सुखदायी समझकर छोड़े तो कुछ गौरव की बात बनती है, किन्तु ऐसा त्यागी कोई नहीं दीखता तथा ऐसा होना सम्भव भी नहीं है। इस अंश में मनुष्य पशु-पक्षियों से उच्च नहीं प्रतीत होता।

५—मोक्षार्थी को चाहिये कि वह इन पाँचों विषयों को 'व्यवहार' और 'विवेक' की कसौटी पर पुनः पुनः कसकर परखता रहे कि ये 'रूप-रसादि' उसके पथ में कहाँ तक सहायक बनते हैं और कब 'बाधक' बन जाते हैं? इन सामान्य जनों के समान वह भी 'सुख-भ्रांति' से विषयों में फँस कर कहीं मारा न जाय और विषयों के पीतल को अंधेरे में सोने के भाव लेकर आत्मा का नाश ही न कर बैठे।

६—यह ज्ञात करके कि भ्रांति से—मोह और अज्ञान से सोना समझकर जिसे हम मोल लेते रहे हैं और अभी तक उसका भार वहन

करते आ रहे हैं, उस पोटल को त्यागने पर कोई भी 'विवेकीपुरुष' दुःखी न होकर प्रसन्न ही होगा कि वह जहाँ भार-वहन करने से बचा वहाँ उन बटमारों की मार से भी बच गया, जो सोना समझकर उसका पीछा करते आ रहे थे—भय दिखा रहे थे।

७—भूख प्यास को शान्त करने के लिए जैसे भोजन और जल लिया जाता है, तद्वत् ये 'विषय' भी 'इन्द्रिय-रोगों के उपशमनार्थ औषध-रूप हैं न कि स्वाद और सुख के दाता।'

८—प्रत्येक कामना के पीछे छायावत् दुःख-दर्द छिपा रहता है, अतः पहला कार्य तो यह होना चाहिये कि कामना के जनक इन रूपादि विषयों और कामादि विकारों को इन के बीजों—संस्कारों सहित 'विवेकाग्नि' से भून डाला जाए। हठ या केवल विचार मात्र से विषयों को जीता नहीं जा सकता। 'परम-वैराग्य' के द्वारा पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने पर साधक में ऐसा सामर्थ्य आ जाता है कि विषय के समुपस्थित होने पर भी उन्हें ग्रहण करने के स्थान पर उनके प्रति उदासीनता प्रकट हो।

९—अनार्ष पुस्तकों का पठन-पाठन ऐसा ही होता है जैसे किसी स्वच्छ शुद्ध जल स्रोत को पत्थरों से पाट देना—अर्थात् 'बुद्धि-भेद' उत्पन्न करने वाली पुस्तकें पढ़ने पर 'मौलिक-विचारशक्ति' तथा 'अनुभव-शक्ति' भी कुण्ठित पड़ जाती है, तब मूढ़ता और हठ बढ़ जाते हैं, अतः प्रथम स्वयं अनुभव करो फिर शास्त्र से पुष्टि पाकर किसी के समक्ष प्रकट करो। थोथा शब्द ज्ञान ढोल के समान होता है, जो शब्द तो करता है पर होता है 'तत्त्वहीन'—मिथ्याचार या 'दम्भमात्र' का प्रदर्शन भर।

१०—गुरुदेव कहा करते थे—कामना या अभिलाषा होनी चाहिए तो केवल 'नितान्त दुःख-निवृत्ति' की 'मोक्ष' की, और मोक्ष के लिए 'पूर्ण विवेक' तथा 'परम-वैराग्य-प्राप्ति' की। इसके पीछे फिर कोई 'इच्छा-कामना-अभिलाषा' उपजेगी ही नहीं।

११—'विवेक वैराग्य' के आदर्श-रूप 'अपरिग्रही' योगी विषयों तथा पदार्थों के सभी रूपों को अग्राह्य समझते हुये स्वयं भी ग्रहण नहीं करता है आहार तक ग्रहण करता है 'प्रतीकार व्याधेः' की दृष्टि तथा बुद्धि से।

१२—जो आत्मचिन्तन और ईशवन्दन 'परवैराग्य' तथा 'विवेक' को प्रदीप्त नहीं करते उनमें कहीं त्रुटि है—भुनाये हैं, ऐसी मान्यता के साथ 'परम वैराग्य' और 'विवेक-प्रदीप्ति' के सुनिश्चित-साधन भूत 'अष्टाङ्ग-योग' का आचरण मन-वचन कर्म द्वारा स्वयं करे एवं अन्तेवासियों से कराये।

१३—'प्रसाद' शब्द आत्मा 'पुरुष' की 'क्लेश रहित विशेष मुक्त अवस्था' का द्योतक है, यह 'प्रसाद' अष्टाङ्ग योग के अभ्यास या अनुष्ठान से 'निर्विचार-समाधि' द्वारा ही प्राप्त होता है। 'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्म प्रसादः'—योग १।४७ ✿✿

दीर्घ जीवन

श्री पं० रामस्वरूप शास्त्री आयुर्वेदाचार्य

"शतायुर्वै पुरुषः" इस वेद वाक्य के आधार पर १०० वर्ष तक पुरुष को जीवन का अधिकार है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि
जिजीविषेच्छतं समाः।
—ईशोपनिषद्

इस मृत्यु लोक में शुभ कर्म करते हुये १०० वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिये अर्थात् योग्य कर्म नहीं किये तो १०० वर्ष तक जीवन नहीं रह सकता। उपनिषद् वाक्य से यह ध्वनि प्रकट होती है। दीर्घायु शुभ कर्मों पर आश्रित है। इस कर्म प्रधान संसार में सभी कुछ कर्म पर ही निर्भर है। भगवान व्यासदेव कहते हैं कि—'कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते, सुख दुःख भयं क्लेशम् कर्मणैवाभिपद्यते।' जीव अपने कर्मों से उत्पन्न होता है और कर्म से ही विलीन होता है। सुख दुःख भय और क्लेश मनुष्य को अपने कर्मों से ही प्राप्त होते हैं। मानव भाग्य पर निर्भर रहता है। पर यह कर्म तो पाँचवाँ भाग है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में उद्धृत करते हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता
करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा
दैवं चैवात्र पंचमम्॥
—भ० गी० १८-१४

कर्म में पाँचवा भाग दैव का है। अतः कर्म से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं। इसी से भागवत में उल्लेख है कि—

तस्मात्सं पूजयेत् कर्म
स्वभावस्थ स्वकर्मकृत्।
अंजसा येन वर्तेत
तदेवास्य हि दैवतम्॥

कर्म ही मनुष्य का भाग्य है। इसलिये कर्म के द्वारा संसार में जीवन सुख पूर्वक व्यतीत किया जा सके वही कर्म करना चाहिये ऐसे विशुद्ध कर्म को करते हुये मनुष्य को १०० वर्ष तक जीने का अधिकार है। इसी के लिये सर्वदैव प्रयत्नशील रहे।

दीर्घ जीवन के लिये किस प्रकार के मार्ग को अपनाना चाहिये इसका उत्तर महर्षियों ने अपने अनुभव को, मानव समाज के लिये स्मृति ग्रन्थों में पूर्णरूप से वर्णित किया है।

पथ्यहितमित भक्षणेन
ब्रह्मचर्येण व्यायामेन च।

शरीर के रुग्ण होने का मुख्य कारण—जिह्वा लोलुपता है। पेट को कबाड़ी की दुकान समझ जो कुछ भी मिला वही पेट में—सो ऐसी अवस्था में पेट कुम्हार का माट बन जाता है और आपस में मिलने पर हाथों से पहले पेट टकरा जाते हैं बेचारे हाथ अपना काम नहीं कर पाते यह सब क्यों:—उत्तर है

जिह्वा लोलुपता। दिन भर बकरी के समान चरते रहने से यह दशा होती है, सो इससे बचना चाहिये। रुचकर हितकर भोजन ही परिमित रूप में स्वास्थ्यकर है। भगवान गीता में लिखते हैं कि—

आयु सत्वबलारोग्य
सुख प्रीति विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्याः
आहाराः सात्विक प्रियाः॥

स्वस्थ जीवन के लिये आहार पर पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिये। उत्तम आहार से ही स्वस्थ जीवन तेज सामर्थ्य शक्ति की वृद्धि होती है। मन में उत्साह तथा आनन्द का अनुभव होता है। 'रस्याः' जिस आहार से मुख की लाला ग्रन्थी जाग्रत होकर पाचन क्रिया के लिये आवश्यक लालारस पैदा करे। स्निग्ध भूख के वेग को शान्त करने वाला अर्थात् तृप्ती देने वाला हो। इस प्रकार के आहार को सेवन करने वाला व्यक्ति दीर्घजीवी तथा सुखी रहता है। इसके विपरीत अस्वाभाविक एवं तेज मिर्च मसाले वाले आहार का परिणाम अनेक रोगों की उत्पत्ति का कारण बनता है। सुपाच्य पथ्य आहार ही शरीर को निरोग रखने में समर्थ है। 'अर्धं पूरयेदन्नेन तदर्धं वारिणा तथा'—उदर का १ भाग वायु के लिये तथा अन्न के पाचन व निरुपयोगी पदार्थों के विसर्जन के लिए रिक्त रखना चाहिये। भोजन को पूर्णतया चबाकर खाना चाहिये। विद्यार्थी अध्यापक आदि इस नियम की प्रायः अवहेलना करते देखे गये हैं। फलस्वरूप उन्हें अपचन कोष्ठबद्धता अर्श (बवासीर) आदि का रोगी देखा गया है। शरीर में रहने वाली सात धातुओं में शुक्र प्रधान है। यही जीवन का मुख्य आधार है। शुक्र के बल पर ही दीर्घ जीवन प्राप्त होने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

मलाधीनं बलं पुंसां
शुक्रायत्तं तु जीवितम्।

मल के अधीन बल एवं शुक्र अधीन जीवन है। शुक्र का महत्वपूर्ण स्थान होने से इसकी रक्षा परम आवश्यक है।

शुक्र की कमी से सभी धातुओं का ह्रास होगा अतः इसका परिणाम धातुक्षय पाण्डु दुर्बलता आदि रोगों की उत्पत्ति। इसी कारण मनीषियों ने ब्रह्मचर्य को इतनी महत्ता बतलाई है।

ब्रह्मचर्येण तपसा
देवामृत्यु मुपाघ्नत।

ब्रह्मचर्य और तपस्या से देवताओं ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की। निर्धारित आहार के साथ योग्य व्यायाम भी शरीर रक्षा के लिये परमावश्यक है। गुरुदेव ने आश्रम में जीवन तत्व साधन का प्रयोग प्रारम्भ कर रखा है। जिससे साधक नियमित व्यायाम कर लाभान्वित होते हैं। शरीर का स्वस्थ रहना प्रधानतः तीन अवयवों की कार्य क्षमता पर निर्भर

है—ये अङ्ग हैं (१) पचनेन्द्रिय, (२) फेफड़े, (३) मज्जातन्तु—

पचनेन्द्रिय—इसका कार्य भुक्त पदार्थ को पचाना है। उसके पचने पर रस रक्त का निर्माण होता है। अतः इस अङ्ग को कार्यशील रखने के लिये व्यायाम ही परम साधन है। जिस व्यायाम द्वारा पचनेन्द्रिय का आकुञ्चन प्रसारण हो वही प्रति दिन करना चाहिये। इस अङ्ग के विकृत होने पर अन्न का पाचन, ठीक न होने से मल विसर्जन में बाधा आयेगी और अनेक उपद्रव होकर शरीर रोगी हो जायगा। आयुर्वेद का सिद्धान्त है—

सर्वदोषा मलाश्रयाः।

सब दोष मल के आश्रित है। अतएव इस अङ्ग के स्वस्थ रहने पर ही इसके अङ्गों के पोषण के लिये शुद्ध रक्त प्राप्त हो सकता है।

फुफ्फुस (फेफड़े)—दूसरा प्रधान अङ्ग शरीर में फुफ्फुस (फेफड़े) है। इसके कार्यों की ओर दृष्टिपात करने पर हम परिणाम पर पहुँचते हैं कि इनका कार्यरत रहना अत्यन्त आवश्यक है। इनकी कार्य-क्षमता का आधार श्वास क्रिया है। इन्हें कार्यशील रखने के लिये प्राणायाम अनिवार्य है। प्राणायाम अनेक विधि है, गुरु द्वारा जैसे पूरक कुम्भक रेचक को निश्चित संख्या तक किया जाता है। इसके अतिरिक्त शीतली, भ्रामरी भस्त्रिका आदि प्राणायाम सद्गुरु द्वारा निर्दिष्ट विधि से करने चाहिये।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य

स्थिरमासनमात्मनः।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं

चैलाजिनकुशोत्तरम्॥

—गीता ६।११

शुद्ध प्रदेश में कुशा मृग चर्म आदि के उत्तम आसन पर जो न अति नीचा हो न अति ऊँचा हो ऐसे आसन पर बैठ प्राणायाम करे। सूर्य नमस्कार आदि आसन करते समय प्राणायाम की तीन क्रियाएं पूरक, कुम्भक, रेचक पर पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये। श्वास क्रिया पर ध्यान न देने से अनेक मल्ल विद्या विशारदों को असमय में यम-सदनाभिमुखी बनते देखा गया है।

फेफड़ों की दुर्बलता से खाँसी प्रतिश्याय (जुकाम) ज्वर आदि रोग उत्पन्न होते हैं। असावधानी रखने से या इनकी उपेक्षा करने से कालान्तर में यक्ष्मा रोग का शिकार हो जाते हैं। "प्रतिश्यायादथः कास कासात्संजायते क्षयः" इस अङ्ग को पुष्ट रखने के लिये समुचित व्यायाम एवं प्राणायाम ही रामबाण औषधी है।

मज्जा तन्तु—तीसरा अङ्ग शरीर में मज्जातन्तु है। यह मस्तिष्क से निकलकर पृष्ठ भाग से होते हुए सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त कर लेते हैं। इनको दृढ़ एवं कार्यशील बना रहना नितान्त आवश्यक है।

पृष्ठ भाग को पूर्णतः बलवान बनाने के

लिये यौगिक व्यायाम करने चाहिये। व्यायाम करते समय मनः स्थिति पर पूर्ण अधिकार रखना चाहिये—एवं दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि मैं स्वास्थ्य-लाभ कर रहा हूँ। व्यायाम द्वारा मैं दीर्घजीवी बनूँ। इस प्रकार के आदर्श वाक्यों तथा गुरुदेव का निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिये।

मज्जातन्तु को सुगठित बलिष्ठ बनाने के लिये सूर्य नमस्कार सर्वांगासन, हलासन पश्चिमोत्तान आदि आसन करने चाहिये। मैदानी व्यायाम जैसे—लाठी भाला आदि का प्रयोग स्फूर्तिदायक है। थोड़े ही समय में पर्याप्त व्यायाम हो जाता है।

इन तीन वस्तुओं को नियमित व्यायाम द्वारा बलिष्ठ बनाकर सात्विक आहार शुद्ध वायु में विश्राम अति आलस्य का त्याग तथा नित्य सूर्यस्नान ब्रह्मचर्यपालन पूर्वक जीवन यापन करने वाला व्यक्ति निश्चय ही सौ वर्ष तक जीवन धारण कर सकता है।

शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।

❀ अपवर्गीय बीज ❀

जैसे वर्षा ऋतु में मेघ बरसने के बाद पृथिवी पर अनेक प्रकार की औषधि-वनस्पतियाँ अंकुरित हो जाती हैं, इससे अनुमान होता है, कि उनके बीज पृथिवी में पहले से विद्यमान थे, इसी प्रकार मोक्ष विषयक गाथा-आख्यान आदि सुनने पर हर्ष से जिसके रोंगटे खड़े हो जाते हैं, अथवा भावनाओं का उद्गार उभर आने से आँसू निकल आते हैं, उससे अनुमान होता है—इस व्यक्ति ने पूर्व जीवन में मोक्ष-मार्ग का अभ्यास किया हुआ है। वहाँ अपवर्ग प्राप्त कराने का बीज विद्यमान है। ऐसी दशा में आत्मभाव की स्वाभाविक भावना प्रबुद्ध रहती है। आत्मा को आत्मा समझना, देहादि को आत्मा से भिन्न प्राकृतिक समझना, और यह जानना, कि प्राकृतिक जड़ चित्त आत्मा का साधनमात्र रहकर उसके लिये निरन्तर बाह्य-अभ्यन्तर विषयों को प्रस्तुत किया करता है।

जिस आत्मा में अपवर्गभागीय बीज नहीं होते, वहाँ स्वभाव को छोड़कर दोषों (राग, द्वेष, मोह आदि) से अभिभूत बनाकर लानेवाली आत्मा में विपक्षभागीय बीज विद्यमान रहते हैं। वहाँ अपवर्गीय मार्ग के विपरीत भाव उभरते रहते हैं? जैसे—कर्मों का फल कुछ नहीं मिलता, पूर्व-पश्चात् जन्म (जीवन) का कोई अस्तित्व नहीं है। मैं कौन था? कैसे था? यह सब जगत् क्या है? किस प्रकार हुआ है? हम क्या होंगे? और कैसे होंगे? इत्यादि बातों को कौन जानता है? इसलिये संसार में मौज चाहो—मजे से रहो।

इस प्रकार की पूर्वपक्षीय—विपक्षभागीय भावना उस समय पूर्णरूप से समाप्त हो जाती है, जब अपवर्गभागीय बीज सबल होकर अध्यात्म-मार्ग को अंकुरित कर निरन्तर योगाङ्गों के अनुष्ठान से समाधि अवस्था को उजागर कर देते हैं। उस समय आत्मा अपने शुद्ध, पवित्र अर्थात् अपनी चेतन स्वरूप का अनुभव करता है, तथा समझता है—मैं प्रकृति एवं प्राकृत चित्त आदि से सर्वथा भिन्न हूँ। तब प्राकृत तत्त्वों में आत्मीयता की भावना नितान्त निवृत्त हो जाती है।

—योग दर्शन-सार

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम

महा भारतीय सूक्ति-संग्रह

शकुन्तला ने दुष्यन्त से कहा—

विरूपो यावदादर्शे नात्मनः पश्यते मुखम् ।
मन्यते तावदात्मन्येभ्यो रूपवत्तरम ॥

कुरूप मनुष्य जब तक दर्पण में अपना मुख नहीं देख लेता तब तक वह अपने को दूसरों से अधिक रूपवान समझता है ।

× × × × ×

यदा स्वमुखमादर्शे विकृतं सो ऽभिवीक्षते ।
तदान्तरं विजानीति आत्मानं चेतरं जनम् ॥

किन्तु जब कभी वह अपने विकृत मुख का दर्पण में दर्शन कर लेता है तब अपने और दूसरों में क्या अन्तर है, यह उसकी समझ में आ जाता है।

× × × × ×

अतीव रूपसम्पन्नो न कंचिदवमन्यते ।
अतीव जल्पन दुर्वाचो भवतीह विहेठकः ॥

जो अत्यन्त रूपवान है वह किसी दूसरे का अपमान नहीं करता । परन्तु जो रूपवान न होकर भी अपने रूप की प्रशंसा में अधिक बातें बनाता है वह मुख से खोटे वचन कहता और दूसरों को पीड़ित करता है ।

× × × × ×

मूर्खो हि जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
अशुभं वाक्य मादत्ते पुरीषमिव सूकरः ॥

मूर्ख मनुष्य परस्पर वार्तालाप करने वाले दूसरे लोगों की भली बुरी बातें सुनकर उन में से बुरी बातों को ही ग्रहण करता है । ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सूअर अन्य वस्तुओं के रहते हुए भी मल को ही अपना आहार बनाता है ।

प्राज्ञस्तु जल्पतां पुंसां, श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
गुणवद् वाक्य मादत्ते हंसः क्षीर मिवाम्भसः ॥

परन्तु विद्वान पुरुष दूसरे वक्ताओं के शुभाशुभ वचन को सुनकर उनमें से गुण युक्त बातों को ही अपनाता है, ठीक उसी तरह जैसे हंस पानी को छोड़कर केवल दूध ग्रहण कर लेता है।

× × × × ×

अन्यान् परिवदन् साधुर्यथा हि परितप्यते ।
तथा परिवदन्नन्यांस्तुष्टो भवति दुर्जनः ॥

साधु पुरुष दूसरों की निन्दा का अवसर आने पर जैसे अत्यन्त संतप्त हो उठता है ठीक उसी प्रकार दुष्ट मनुष्य दूसरों की निन्दा का अवसर मिलने पर बहुत सन्तुष्ट होता है।

× × × × ×

अभिवाद्य यथा वृद्धान् सन्तोगच्छन्ति निर्वृतिम् ।
एवं सज्जनमाक्रुश्य मूर्खो भवति निर्वृतः ॥
सुखं जीवन्त्यदोषज्ञा मूर्खा दोषानुदर्शिनः ।
यत्र वाच्याः परैः सन्तः परानाहुस्तथाविधान् ॥

जैसे साधु पुरुष बड़े बूढ़ों को प्रणाम करके बड़े प्रसन्न होते हैं वैसे ही मूर्ख मानव साधु पुरुषों की निन्दा करके सन्तोष का अनुभव करते हैं। साधु पुरुष दूसरों के दोष न देखते हुए सुख से जीवन बिताते हैं किन्तु मूर्ख मनुष्य सदा दूसरों के दोष ही देखा करते हैं।

जिन दोषों के कारण दुष्टात्मा मनुष्य सज्जन पुरुषों द्वारा निन्दा के योग्य समझे जाते दुष्ट लोग वैसे ही दोषों का सज्जन पुरुषों पर आरोप लगाकर उनकी निन्दा करते रहते हैं।

× × × × ×

अतो हास्यतरं लोके किंचिदन्यन्न विद्यते ।
यत्र दुर्जनमित्याह दुर्जनः सज्जनं स्वयम् ॥

संसार में इस से बढ़कर हंसी की दूसरी कोई बात नहीं हो सकती कि जो दुर्जन है वे स्वयं ही सज्जन पुरुषों को दुर्जन कहते हैं।

—सम्भवपर्व-महाभारत

योग वाशिष्ठ के आधार पर—

माया चक्र ?

❀ श्री विष्णुप्रसाद व्यास, बीना

गाधिमुनि का जन्म उच्च ब्राह्मण कुल में हुआ था। स्वभाव से ही वे सरल हृदय, सदाचारी और धर्मशील थे। बचपन में उन्हें अच्छी शिक्षा प्राप्त करने का अवसर भी मिला। उन्होंने धर्म ग्रन्थों और शास्त्रों का भली प्रकार अध्ययन किया। स्वाध्याय के फलस्वरूप उनके चित्त में जगत की नश्वरता और क्षण भंगुरता का दृढ़ विश्वास हो गया। जगत के प्रति उनकी आसक्ति नष्ट हो गई और उपरति जागृत हुई। घरबार, भाई-बन्धु, सम्बन्धी आदि सब का त्याग करके तप करने को वन में निकल गये।

एक घने जंगल में पहुँचकर वे एक सरोवर के जल में खड़े होकर तप करने लगे। गर्दन तक जल में डूबे रहकर उन्होंने शीतोष्ण वर्षा, आंधी, तूफान आदि अनुकूल अथवा प्रतिकूल ऋतुओं को सहन किया तथा खाना पीना भी त्याग दिया। उनके चित्त में परमात्मा के साक्षात् दर्शन को छोड़कर कोई भी अन्य कामना नहीं थी। इसी अवस्था में उन्होंने निरन्तर आठ मास तक घोर तप किया। अन्ततः भगवान विष्णु उनके कठोर तप से प्रसन्न हुये और उन्होंने गाधि को साक्षात् दर्शन दिये।

श्री भगवान का मनोहर दर्शन पाकर गाधिजी के नयन तृप्त हुए। आठ मास के निरन्तर तप के कारण उनका शरीर अति दुर्बल हो गया था। श्री प्रभु-दर्शन पाकर उनका हृदय उल्लास एवं आनन्द से भर गया, जिससे वे पूर्ववत् हृष्ट-पुष्ट हो गये। श्री भगवान ने प्रसन्नभाव से कहा, "तपस्वी वर माँगो"।

गाधि मुनि के मन से समस्त सांसारिक कामना तो पहिले से ही लुप्त हो चुकी थी। किन्तु एक बात उन्हें परेशान करती रहती थी। वे प्रायः सोचा करते कि जगत में माया का जितना भी प्रपञ्च देखने में आता है, वह प्रकट में तो सत् भासता है किन्तु शास्त्रों में कहा गया है कि वह सब भ्रममात्र है दोनों में से कौन सी बात ठीक है, यही उलझन उन्हें बहुत परेशान किया करती थी। अतएव मन की इस शङ्का का समाधान करने हेतु उन्होंने भगवान से प्रार्थना की "प्रभो आपकी माया ने जगत के प्राणियों को चक्कर में डाल रखा है यह माया सत् है, अथवा भ्रममात्र एवं काल्पनिक, इसे जानने के लिए मैं माया का रूप देखना चाहता हूँ। इसके अतिरिक्त मेरी अन्य कोई कामना नहीं है।

श्री भगवान ने मुस्कराकर उत्तर दिया बहुत अच्छा तुम मेरी माया का रूप देखोगे, तथा उसकी वास्तविकता का परिचय पा लेने के बाद माया से मुक्त होकर फिर मुझसे आ मिलोगे।

यह वरदान देकर प्रभु अन्तर्धान हो गये। इस बात को बहुत समय बीत गया। अब

गाधि ऋषि सरोवर के जल में खड़े होकर तप नहीं करते थे, वरन् एक घने वृक्ष के नीचे बैठकर प्रभु भजन किया करते थे। अब वे पूर्ववत् भूखे प्यासे भी नहीं रहते थे, वरन् वन के कन्दमूल फल चुनकर खा लेते तथा नदी के शीतल जल से अपनी प्यास बुझाते थे। माया को देखने का जो वरदान उन्हें श्री प्रभु से प्राप्त हुआ था, उसके पूरा होने में अभी देर थी। कुछ समय पश्चात् तो उन्हें वरदान वाली बात ही बिल्कुल भूल गई। एक दिन वे स्नान करने नदी तट पर गये। उनका नियम था कि वे स्नान करते समय एक विशेष मन्त्र का जाप किया करते थे। उस दिन जो उन्होंने मन्त्र जाप करते हुये नदी में डुबकी लगाई तो सहसा उन्हें मन्त्र भूल गया। उसे याद करने के लिये वे अपने मस्तिष्क पर जोर डालने लगे और इसी अवस्था में दो घड़ी तक नदी में डुबकी लगाये रहे।

उन्हें मन्त्र तो याद न आया किन्तु उन्हीं दो घड़ियों में उन्होंने एक विचित्र दृश्य देखा, जिसने उन्हें आश्चर्य में डाल दिया। डुबकी लगाये हुये वे देखते हैं कि वे अपने घर में लौट आये हैं तथा जिन बन्धु-बान्धवों एवं परिजनों को छोड़कर वे साधु हुये थे, उन्हीं लोगों के बीच फिर से आ पहुँचे हैं। उन सब ने उन्हें चारों ओर से घेर रखा है। यहाँ अपने परिवार के लोगों के बीच वे बहुत दिनों तक रहे। यहीं उनकी मृत्यु हो गई। कुनबे के लोगों ने उनके मृतक शरीर को श्मशान में ले जाकर जला दिया। तत्पश्चात् वे सूक्ष्म शरीर द्वारा पर्याप्त काल तक भटकते रहे और अन्ततः भूत मण्डल नामक देश में जा पहुँचे हैं, यहाँ एक गाँव में किसी चाण्डाल स्त्री के गर्भ से उनका जन्म हुआ है। चाण्डालों ने उस बालक का नाम करंज रखा है।

फिर उन्होंने यह भी देखा कि वे चाण्डाल बालक करंज के रूप में युवावस्था को प्राप्त हुए। माता-पिता ने उस लड़के का विवाह कर दिया और वह अपने बाल बच्चों सहित चाण्डालों के उस गाँव में रहने लगा। इस प्रकार कुछ समय बीत जाने पर उस देश में अकाल पड़ा और लोग भूखों मरने लगे। करंज के परिवार के सब लोग भी भुखमरी का शिकार हो गये और वह अकेला रह गया। फिर उसने वह गाँव छोड़ दिया। और इधर उधर कई स्थानों पर मारा मारा फिरता रहा। भटकता हुआ वह बहुत दूर के एक प्रदेश में जा निकला।

इस प्रदेश का नाम कीरदेश था। उन्हीं दिनों वहाँ के राजा की मृत्यु हो गई थी। उस देश में यह प्रथा थी कि जब कोई राजा निस्संतान मर जाये तो उसके उत्तराधिकारी की खोज एक विशेष हाथी द्वारा की जाती थी। सजाया हुआ एक हाथी था, जिसे खूब सजा सँवारकर उसकी पीठ पर झूल और पालकी कस दी जाती थी। इस हाथी को

झूला छोड़ देते थे और वह राजधानी में घूमता रहता था। जिस व्यक्ति को वह हाथी स्वयं उठाकर अपनी पीठ पर बिठाले, उसी को प्रदेश का भावी शासक घोषित किया जाता था। इन सभी बातों से अनभिज्ञ चांडाल करंज घूमता—घामता उस नगरी में प्रविष्ट हुआ। सामने से वही सुसज्जित हाथी झूमता हुआ चला आता था। करंज ने हाथी से बचने के लिये इधर-उधर होने की बहुत कोशिश की, पर सब व्यर्थ। हाथी सीधा करंज की ओर आया और उसके निकट पहुँच-कर उसने झपटकर करंज को अपनी सूँड में भर लिया। फिर बड़े आराम से उसे अपनी पीठ पर बिठला कर हाथी राजभवन की ओर भाग चला। करंज की समझ में कुछ भी न आया। परन्तु वह हाथी की पीठ से कूद भी नहीं सकता था। चुपचाप देखने लगा कि आगे क्या होता है।

नगर में शहनाइयाँ बज उठी। सब प्रजा-जन ढोल बजाकर प्रसन्नता व्यक्त कर रहे थे कि उन्हें नया राजा मिल गया है। भाग्य के इस चक्र को देखकर करंज भी प्रसन्न था। तब उसने अपने चाण्डाल होने की बात किसी पर प्रकट न होने दी। उसने सबसे अपना नाम गोकुल बतलाया और स्वयं को क्षत्रिय राजपूत व्यक्त किया। आदर, सत्कार, मान एवं राज्याधिकार के साथ भोगैश्वर्य की सामग्रियाँ भी अनायास ही उसे प्राप्त हो गई थीं।

उसने उस देश में बहुत समय तक राज्य किया वह एक धर्मात्मा एवं न्यायकारी शासक सिद्ध हुआ। उसने प्रजा के हित में अनेकानेक कार्य किये। धर्म कर्म में उसकी विशेष रुचि थी। प्रजा भी राजा के दैवी गुणों पर मुग्ध थी। मन्त्री एवं सामन्तादि उसका बड़ा आदर करते थे। इस प्रकार करंज ने वहाँ आठ वर्षों तक सुख पूर्वक राज्य किया तथा ऐश्वर्य एवं विलास से पूर्ण जीवन व्यतीत किया।

आठ वर्ष व्यतीत होने पर, एक दिन चाण्डाल जाति का कोई विशेष त्योहार था। चाण्डालों ने बड़ी धूम धाम के साथ एक जुलूस निकाला और नाचते गाते हुए पूरे नगर में घूमे। करंज भी जाति का चाण्डाल तो था ही, अपनी बिरादरी वालों को त्योहार मनाते देखकर उसके मन में भी इस जुलूस को देखने की इच्छा हुई।

जब चाण्डालों का वह जुलूस राजभवन के निकट से निकला तो उसे देखने के लिये करंज भी महल के छज्जे पर निकल आया। रानियों और मन्त्रियों ने बहुत समझाया कि महाराज, चाण्डालों का यह त्योहार आपके देखने योग्य नहीं है। पर राजा करंज न माना और आकर छज्जे पर खड़ा हो गया। जब स्वयं राजा ही समारोह देखने को बाहर निकल आया तो रानियाँ और मन्त्रीगण भी उसके पीछे आकर खड़े हो गये।

संयोग ऐसा हुआ कि जिस गाँव से करंज

का जन्म हुआ था उसी गाँव का एक वृद्ध चाण्डाल भी इस समारोह में शामिल था। जब वह जुलूस राजभवन के आगे से गुजर रहा था तो उस वृद्ध की दृष्टि सहसा महल के छज्जे की ओर उठ गई। वहाँ उसने बहुमूल्य परिधान पहिने तथा राजसी ठाठ बनाये हुए करंज को देखा, जो सामन्तों के बीच घिरा हुआ यह दृश्य देख रहा था। वृद्ध ने झट पहचान लिया कि यह तो अपने ही गाँव का तथा अपनी बिरादरी का करंज है, जो आज कल यहाँ का राजा बना हुआ है। इधर करंज ने भी वृद्ध को पहचान लिया था। अब भेद खुल जाने की भय से करंज ने इधर-उधर होने तथा मुख छिपाने की बहुत चेष्टा की, पर व्यर्थ। अब तो बूढ़े की दृष्टि उस पर पड़ ही चुकी थी। करंज ने संकेत द्वारा वृद्ध से मौन रहने की प्रार्थना की। किन्तु वृद्ध ने संकेत का अर्थ यह समझा कि करंज उसे देखकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त कर रहा है। अतः वृद्ध ने भी अपनी प्रसन्नता प्रदर्शित करते हुए उच्च स्वर में कहा "अरे भाई करंज तुम यहाँ हो, अच्छा हुआ जो तुम्हें राजपाट मिल गया। यह अधिकार और राजसी-ठाठ तुम्हें मुबारिक हो। पर भाई। राजा बने हो तो कुछ अपनी बिरादरी वालों का भी ध्यान रखना।"

जुलूस आगे बढ़ गया। मगर इधर करंज का बुरा हाल था। उसकी पोल खुल गई थी। रानियाँ, मन्त्री और सामन्तादि जो उसके पीछे खड़े हुए थे, उन सब ने वृद्ध चाण्डाल की बात सुनली थी। करंज अब पछता रहा था तथा मन ही मन स्वयं को धिक्कार रहा था कि क्यों उसने जुलूस को देखने की हठ की थी? पर अब क्या हो सकता था और अब प्रजाजनों पर उसका भेद प्रकट होने को कौन रोक सकता था।

जंगल में लगी आग के समान यह समाचार राजधानी तो क्या, पूरे प्रदेश में ही शीघ्र फैल गया कि आठ वर्षों से जो राजा यहाँ राज्य संचालन कर रहा है, वह एक चाण्डाल है तथा उसका वास्तविक नाम भी माधव नहीं। करंज है। अब क्या था। कहाँ तो करंज सबके हृदयों पर शासन करता था। धर्मनिष्ठ एवं न्यायकारी राजा होने के कारण प्रजा उसका बहुत आदर करती और सिर आँखों पर बिठलाती थी; कहाँ अब उसे आकर, प्रतिष्ठा देना तो एक तरफ। साधारण दरबारी और महल के सेवक तक उसे छूने से कतराने लगे। अब न कोई उससे साथ बात करता, न कोई सहानुभूति के दो शब्द ही कहता। वह नीच जाति का होने से अस्पृश्य था और सब लोग उसकी छाया तक से दूर भागने लगे।

मन्त्रियों ने सामन्तों ने नगर के सम्मानित

मंत्रो कुछ पुरुषों के साथ परामर्श किया और एक वृहद सभा बुलाई गई। जिसमें नगर के लोगों के साथ साथ विद्वान पंडितों और ज्योतिषियों को भी आमन्त्रित किया गया। इस बात पर विचार किया जाने लगा कि आठ वर्षों तक एक चण्डाल के राज्य में रहने से हम सब जिस पाप के भागी हुए हैं, उसका प्रायश्चित कैसे होगा ? विचार विमर्श के उपरान्त निश्चित हुआ कि चण्डाल के सम्पर्क में रहने के कारण हम सब अपावन हो चुके हैं। इन आठ वर्षों में कितने ही नामी ब्राह्मणों ने राजमहल में भोजन किया था। रानियां उस चाण्डाल के संसर्ग में रही थी, तथा अन्यान्य मन्त्री सामन्त आदि भी किसी न किसी प्रकार उसकी निकटता में रहे थे। अब इस घोर पाप का प्रायश्चित यही है कि हम सब अपने अपावन शरीरों को अग्नि में भस्म कर दें। इस निर्णयानुसार नगर के बाहर एक विशाल क्षेत्र में एक वृहदाकार चिता बनाई गई। हजारों लाखों मन लकड़ी उस चिता में जलाई गई।

सब मन्त्री गण सामन्त, रानियां, राजदरबारी, ब्राह्मण लोग तथा अन्यान्य जाने माने लोग भी इस चिता में कूद पड़े। उन्हें देखकर नगर के अन्य प्रजाजन भी न रह सके और उन्होंने भी स्वयं को अग्नि में झोंक दिया यह बीभत्स दृश्य देखकर करंज के हृदय पर प्रबल आघात हुआ। उसने मन में सोचा कि इस भयानक विनाश का कारण केवल मैं हूं। और मैं अभी जीवित हूं। यह विचार कर उस से भी न रहा गया और वह भी उसी धधकती चिता में कूदकर जल मरा।

उधर करंज चिता में जल कर भस्म हुआ और इधर जल में डुबकी लगाते हुए गाधि मुनि को चेत हुआ। उन्हें वह भूला हुआ मन्त्र याद आ गया और वे स्नान करके नदी से बाहर निकल आये। मात्र दो घड़ी की डुबकी में ही उन्होंने इतना सब विचित्र कौतुक देख डाला था। वह सोचने लगे कि यह सब मैंने क्या देखा। क्या जल में डुबकी लगाते समय मैंने कोई अद्भुत स्वप्न देखा या कुछ और था किन्तु बहुत विचार करने पर भी जब उनकी समझ में कुछ न आया तो उन्होंने स्वयं को समझाने की कोशिश की। जाने दो, यह सब मिथ्या भ्रम है। इसके बहुत दिन पश्चात वे इस सारी घटना को ही कोरी कल्पना मानकर सर्वथा भूल गये।

परन्तु फिर एक दिन सहसा एक अन्य घटना घटित हुई, जिससे उनकी सब भूली बिसरी स्मृतियां उभर आई। हुआ यों कि वहां के जंगल में कुटी बना कर रहते थे वहां एक दिन एक [illegible] ब्राह्मण आ निकला। वह मित्र उनका पूर्व परिचित निकला। वह ब्राह्मण अनेक तीर्थों की यात्रा करके घर को लौट रहा

था कि दूर से ऋषि की कुटिया को देखकर इस आशा से चला आया था कि दो घड़ी आराम कर लूँ तथा कुछ जलपान भी यहाँ उपलब्ध हो जायेगा। यहाँ उसे अपने परिचित गाधि मुनि मिले तो वह अति प्रसन्न हुआ। गाधिजी ने देखा कि यह ब्राह्मण पहिले तो खूब हृष्ट-पुष्ट हुआ करता था, किन्तु अब न जाने किस कारण उसका शरीर अति दुर्बल एवं क्षीण हो चुका था।

घर में आये अतिथि का उचित सत्कार करने तथा उसे भोजन करा चुकने के बाद गाधि जी ने उसे अपने निकट बिठलाया और बातों ही बातों में पूछा, "मित्र! तुम तो भली प्रकार स्वस्थ एवं पुष्ट हुआ करते थे। पर तुम इतने क्षीणकाय एवं दुर्बल कैसे हो गये? क्या तुम्हें बहुत समय से भोजन नहीं मिला अथवा कहीं तप-साधना करते रहे हो"?

ब्राह्मण बोला, "क्या बताऊँ भाग्य का मारा घूमता-घामता मैं एक बार कीर देश में जा निकला था। वहाँ मैंने एक मास तक रह कर खूब खाया पिया। बाद में मालूम हुआ कि उस देश में कटंज नामक किसी चाण्डाल ने आठ वर्षों तक शासन किया था, तथा उस का भेद खुल जाने पर वहाँ की सब प्रजा अपने पाप का प्रायश्चित्त करने के लिये चिता में जल मरी थी। यह दुखद समाचार सुनकर मुझे भी प्रायश्चित करने को बाध्य होना पड़ा क्योंकि मैंने भी तो एक मास तक चाण्डाल की नगरी का अन्न जल ग्रहण किया था। अतः मैं वहाँ से सीधा प्रयागराज गया। वहाँ जाकर मैंने एक साथ तीन चान्द्रायण व्रत किये। इस प्रकार निरंतर डेढ़ वर्ष मैंने कुछ खाया पिया नहीं। यही कारण है कि मैं इतना दुर्बल हो गया हूँ।"

ब्राह्मण के मुख से यह सब सुनकर गाधि जी को वे सब बीती बातें याद आने लगीं। तथापि वे अब भी इस वार्ता को कपोल कल्पना ही मान रहे थे। उन्हें इसकी सत्यता का विश्वास नहीं हो रहा था। उन्होंने विप्र से पुनः प्रश्न किया, "भैया! क्या तुम यह सब सच सच कह रहे हो?"

विप्र ने उत्तर दिया, "हाँ हाँ! इसमें सन्देह की क्या बात है, मैं जो कह रहा हूँ, बिल्कुल सत्य है। तो भी यदि तुम्हें विश्वास न हो तो स्वयं उस देश में जाकर मेरी कही बात की जाँच कर सकते हो।"

ब्राह्मण तो अगले दिन वहाँ से चला गया, किन्तु गाधि जी को वह बड़ी परेशानी में डाल गया। जिस बात को गाधि मुनि कोरी कल्पना अथवा मन का भ्रम समझकर भुला जाने का प्रयत्न कर रहे थे, उसी के सत्य होने को विप्र ने प्रमाणित कर दिया था। ब्राह्मण के कथन को वे असत्य भी नहीं मान सकते थे। उन्हें मालूम था कि यह व्यक्ति कभी भूलकर भी असत्य भाषण करने वाला नहीं है।

किन्तु दूसरी ओर उनका विवेक इस बात को भी स्वीकार नहीं कर रहा था कि यह सब कुछ उनके अपने साथ घटित हुआ है। उन्होंने तो मात्र दो घड़ी के लिये जल में डुबकी लगाई थी और भूला हुआ मन्त्र याद करने की चेष्टा करते रहे थे। फिर यह कैसे सम्भव हो सकता है कि इतनी जरा सी देर में उन्होंने करंज के रूप में जन्म लिया हो और पूरा एक जीवन चाण्डाल के रूप में व्यतीत किया हो। दो घड़ी में इतना सब कुछ क्यों कर घटित हो सकता है?

उन्होंने अपने मस्तिष्क पर बहुत जोर डाला, किन्तु यह पहेली न सुलझ सकी। जिस कीरदेश से यह घटना सम्बन्धित थी, वह भी उस जंगल से बहुत दूर था, जहाँ उनकी कुटी थी। इसलिये यह भी सम्भव नहीं था कि वे स्वयं इतनी लम्बी यात्रा करके कीरदेश जायें और इन सभी बातों की जाँच पड़ताल करें। ज्यों-ज्यों वे विचार करते थे, उनकी उलझन और अधिक बढ़ती जाती थी। इस उलझन में वे इतने परेशान हुए कि उनके भजन-भक्ति में भी बाधा पड़ने लगी।

अन्ततः उन्होंने यह निर्णय किया कि इस समस्या का समाधान प्रभु इच्छा पर छोड़कर उनके लिये भजन ध्यान में एकाग्र चित्त हो रहना ही उचित है। अतएव अपने मन को समझाकर तथा उसे नियन्त्रण में रखकर उन्होंने उन सब पुरानी यादों को झटक दिया और मालिक के ध्यान में चित्त को एकाग्र करने की चेष्टा में निरत हो रहे। शनैः शनैः गाधिजी ने पुनः एक बार उन सभी बातों को भुला दिया, जैसे कि कुछ समय पहिले भूले रहे थे। उनकी खोई हुई एकाग्रता उन्हें फिर से प्राप्त हो गई। चित्त वृत्ति के भजन में एकाग्र होते ही उनकी गहन समाधि लग गई और वे तल्लीन होकर सब ओर से बेसुध हो गये।

पर्याप्त काल तक वे समाधिस्थ रहे। इसी तल्लीनावस्था में ही एक दिन उन्हें भगवान विष्णु के साक्षात् दर्शन पुनः एक बार हुए। उन्होंने देखा कि उनके चहुँओर प्रकाश पुंज परिव्याप्त है। तथा प्रकाश (ज्योत्स्ना) के इस सागर के बीचोंबीच श्री भगवान खड़े मन्द-मन्द मुस्कान बिखेर रहे हैं।

वे अपना दाहिना वरद हस्त उठाकर गाधिजी को सान्त्वना देते हुये कह रहे हैं, "गाधि! तुम जिस बात से परेशान रहे हो, वह तुम्हारे ही प्रश्न का उत्तर है। क्या तुम्हें याद नहीं कि तुमने हमारी माया को देखने और उसकी वास्तविकता जानने की इच्छा व्यक्त की थी? बस इसी कारण हमने तुम्हें अपनी माया का एक छोटा सा चमत्कार दिखलाया है?"

अब गाधि ऋषि को स्मरण हो आया कि सचमुच ही उन्होंने एक बार ऐसी इच्छा की थी। उन्होंने उठकर श्री भगवान के चरणों में

दण्डवत् प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनके सम्मुख खड़े रहे। श्री प्रभु ने आगे कहा, सुनो नाधि! तुम्हारे किसी पूर्व जन्म के पाप के फलस्वरूप तुम्हें सचमुच ही चाण्डाल के घर जन्म लेना था तथा वहीं सब घटनायें तुम्हारे साथ घटित होनी थी, जिन्हें तुमने देखा सुना है। पर वर्तमान जन्म में जो तुमने इतना घोर तप और भजन किया है, उसके प्रताप से चाण्डाल का वह जन्म तुम्हें भोगना नहीं पड़ा। वरन् उसी दो घड़ी के समय में ही तुम्हें काल्पनिक रूप से वह सब भुगतना पड़ा। यही हमारी माया का चमत्कार है।

वस्तुतः यह सम्पूर्ण प्रपञ्च ही कल्पना पर आधारित है। जन्म, मरण, सुख दुःख, मान अपमान, हानि-लाभ तथा इसके अतिरिक्त और भी जो कुछ देखने अथवा अनुभव करने में आता है, यह सब मात्र काल्पनिक अथवा भ्रममूलक है। माया के कारण ही ये सब घटनायें वास्तविक प्रतीत होती हैं, वस्तुतः सत्य नहीं है। इसलिये परेशान और दुःखी होना उचित नहीं। उठो और माया की ओर से चित्त को हटाकर हमारे ध्यान में लगादो। तुम्हारे मन को अखण्ड शान्ति प्राप्त होगी।

श्री भगवान अन्तर्धान हो गये। नाधि-मुनि की परेशानी दूर हुई। अब वे माया से मुक्त हो चुके थे। अन्ततः मालिक के स्वरूप में जा लीन हुए। श्री प्रभु का वरदान अथवा आशीर्वाद पूर्ण हुआ।

ॐ लिङ्गशरीर के साथ आत्मा का उत्क्रमण ॐ

सांख्य का यह एक परम सिद्धान्त है; कि संसार में जीव पुरुष के साथ लिङ्ग शरीर का सदा सम्बन्ध बना रहता है। प्रत्येक पुरुष के साथ आदि सर्ग से जिस लिङ्ग शरीर का सम्बन्ध हो जाता है, वह प्रलयकाल आने तक अथवा आत्मसाक्षात्कार होने तक उस पुरुष के साथ बना रहता है। इन दोनों में से कोई अवसर आने पर उसका नाश (लय) हो जाता है। इस बीच में अर्थात् आदि सर्ग से लगाकर प्रलयकाल आने तक अथवा आत्म-साक्षात्कार होने तक जीव पुरुष को जब-जब एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे का कर्मानुसार ग्रहण करना पड़ता है, यह लिङ्ग शरीर उसके साथ बराबर बना रहता है। इसीको सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं। जीव पुरुष इसको लेकर ही स्थूल शरीर में जाता अथवा प्रवेश करता है, और इसे लेकर ही स्थूल शरीर से उत्क्रमण करता है, अर्थात् उससे निकलकर चला जाता है। इनमें पहली स्थिति को जन्म और दूसरी को मृत्यु कहा जाता है। सांख्य-शास्त्रों में इस शरीर का नाम आतिवाहिक भी लिखा है। यह आत्मा का आदिकाल पर्यन्त वहन करता रहता है, इसी कारण संभवतः इसको यह नाम दिया गया है। इस कार्य के लिए लिङ्ग शरीर अथवा सूक्ष्म शरीर को स्वीकार करना सांख्य का एक प्रमुख सिद्धान्त है।

—सांख्य सिद्धान्त

'सिद्धयोग' का यह नवीन वर्ष—

महाप्रभु की पावन जयन्ती के मंगलमय अवसर पर 'सिद्धयोग' अपने जीवन के अठारह वर्ष पूरे करके नये उन्नीसवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। प्रातः स्मरणीय श्री सद्गुरुदेवजी का शुभ आशीर्वाद एवं उनकी सद्‌प्रेरणा को सम्बल बनाकर ही 'सिद्धयोग' ने अपने अस्तित्व के गत अठारह वर्ष पूरे किये हैं। विश्व-व्यापी आर्थिक उथल-पुथल से भी अप्रभावित इसका यह भूतकाल नहीं रहा। उपयोग और उपभोग में आने वाली आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों में प्रतिवर्ष अप्रत्याशित बढ़ोतरी पर बढ़ोतरी होती ही रही है, भविष्य में भी वस्तु-मूल्यों में कमी आयेगी इसकी कोई सम्भावना नहीं है। ऐसी स्थिति में 'सिद्धयोग' के वार्षिक मूल्य में भी कतिपय वृद्धि करदी गई है। फिर भी यह ध्यान रक्खा गया है कि बाजार मूल्यों की प्रतिवर्ष वृद्धि का जो अनुपात है उससे कम अनुपात में 'सिद्धयोग' की मूल्य-वृद्धि की जाय। पूज्यगुरुदेवजी का ऐसा ही आदेश था और इस आदेश का पालन व्यवस्था विभाग द्वारा यथावत् किया गया है। जैसाकि 'सिद्धयोग' के पाठकों को मालूम है 'सिद्धयोग' का प्रकाशन किसी आर्थिक लाभ की अपेक्षा से नहीं किन्तु महाप्रभु जी के लीला ऐश्वर्य और योग सिद्धान्तों के व्यापक प्रचार-प्रसार की दृष्टि से किया गया था। आज भी यही उद्देश्य इसके सामने है।

यह भविष्य में भी यह इसी अपने उद्देश्य की पूर्ति करता रहेगा। इस दिशा में बहुत बड़ा सहयोग उसे आश्रम के सहस्रों गुरु-भाई-बहनों से, उनके ग्राहक बन जाने के फलस्वरूप मिलता रहा है। स्वयं ग्राहक बनकर तथा दूसरों को भी बनाने का थोड़ा सहयोग उनका यदि और मिल जाय तो 'सिद्धयोग' प्रतिवर्ष होनेवाले उस आर्थिक घाटे से मुक्ति पा सकेगा जिसको वहन सम्प्रति श्री गुरुदेव जी महाराज को ही करना पड़ता है। आशा है सभी गुरु भाई-बहन इस दिशा में अपने कृपापूर्ण सहयोग का और अधिक विस्तार करेंगे।

श्री गुरुदेवजी के बहुसंख्यक बुद्धिजीवी और विचारवान् सुविज्ञ शिष्यों में से अनेक का अमूल्य सहयोग उनके विद्वत्तापूर्ण लेखों, रचनाओं और अनुभूतियों के रूप में लिखे गये लेखों से मिलता रहा है। उनका यह सहयोग 'सिद्धयोग' की प्रकाशन सामग्री का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग रहता रहा है। उनके इस कृपापूर्ण सहयोग के लिए भी-सम्पादकीय विभाग की ओर से मैं व्यक्तिगत रूप से सबका आभारी हूँ। 'सिद्धयोग' के प्रचार-प्रसार में इनका यह सहयोग विशेष रूप से सराहनीय रहा है।

विशेष सावधानी बरतने पर भी प्रूफ संशोधन आदि में कुछ भूलों का रह जाना स्वाभाविक है। सुविज्ञ पाठक इसे यत्र-तत्र सुधार कर पढ़ लेंगे ऐसी आशा है। ऐसी भूलों और दोषों के लिए क्षमा याचना करते हुए प्रस्तुत: प्रवेशाङ्क-विशेषाङ्क आप सबकी सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं, इस मंगल कामना के साथ कि महाप्रभुजी और श्रद्धेय श्री गुरुदेवजी का अमोघ आशीर्वाद हमारा-आपका और सभी योगमार्ग के अनुगामी भाई-बहनों का मार्ग दर्शन देता रहे।

विनीत:

— सेवक सम्पादक

गणयति दुःखं न च सुखम्

क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यंकशयनः ।
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो ।
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥

अर्थात् किसी कार्य की सिद्धि में लगा हुआ विद्वान सुख और दुःख की परवाह नहीं किया करता कभी तो वह बिछौना न मिलने पर भूमि पर ही सो जाता है, कभी मिल जाने पर पलङ्ग पर, कभी साग-पात खाकर ही पेट भर लिया करता है तो कभी साठी के धान का भात भी खा लेता है, कभी गुदड़ी ही पहिनकर निर्वाह कर लेता है तो कभी दिव्य (अच्छे-अच्छे) वस्त्र भी धारण कर लेता है। —भर्तृहरि

कबीर-वाणी

✱ प्रेषक श्री शिवराम सागर

सुमिरो सिरजनहार मनुख तन पायके ।
काहे रहो अचेत कहाँ यह अवसर पैहो ।
फिर नहि मानुख जनम बहुरि पीछे पछतैहो ॥
लख चौरासी जीव जन्तु में मानुख परम अनूप ।
सो तन पाय न चेतहु कहा रङ्क का भूप ॥
गरभ बास में रह्यो कह्यो मैं भजिहौं तोही ।
निसि दिन सुमिरौं नाम कष्ट से काढ़ौ मोही ॥
इक मन इक चित ह्वै रहौं रहौं नाम लव लाय ।
पलक न तुम्हें बिसारिहौं यह तन रहै कि जाय ॥
इतना कियो करार तबै प्रभु बाहर कीना ।
बिसर गयो वह ठाँव भयो माया आधीना ॥
× × × × ×
सुफल होय यह देह नेह सतगुरु से कीजै ।
मुक्ती मारग यही सन्त चरनन चित दीजै ॥
नाम जपो निरभय रहो अंग न व्यापै पीर ।
जरा मरन बहु संसय मेटै गावैं दास 'कबीर' ॥

Sidhayoga   Regd No. L-Apr. 008

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्ध योग

संस्थापक संपादक तथा संरक्षक:
योगिराज अनंत श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

जीवन का उद्देश्य : गुण-विकास

जीवन का उद्देश्य क्या है ?

जीवन का उद्देश्य गुण-विकास है। भगवान सर्वगुण-सम्पन्न है। भगवान में हमको लीन होना है, जैसे दूध में दूध डाला जाय। भगवान में जो गुण हैं, वे गुण हम में आने चाहिए। और जो हैं उनका विकास करना है—गुण-ग्रहण करना, गुणवृद्धि करना। इस तरह आप कमाई करते हैं तो जो गुणसम्पदा ईश्वर में है वही आप में आ गयी। वह प्रमाण छोटा होगा। जैसे, एक सेर दूध है और दूसरा, एक तोला दूध। तो, जो गुण-सम्पदा ईश्वर में है, वह आप में आ सकती है। परिमाण भले छोटा हो, पर गुण वे ही हैं। गुणसंग्रह करना, गुणग्रहण करना और गुणविकास करना—यही कर्तव्य है। आखिर हम भी क्या करते हैं? कोई कोई बड़ा आदमी मर जाता तो उसके गुणों का वर्णन करते हैं। विश्वामित्र, बड़ा तपस्वी था, वसिष्ठ बहुत शान्त था—इस तरह हम महापुरुषों का स्मरण करते हुए उनके गुणों का स्मरण करते हैं। उसी प्रकार गुणों याद करते हैं। लम्बा-चौड़ा आत्मचरित्र लिखते हैं, लेकिन उसमें जो एक प्रखर गुण होगा, उसे याद करते हैं। हरिश्चन्द्र का चरित्र देखें। उसका बहुत सारा इतिहास लोग भूल जाते हैं। लेकिन उनकी सत्यनिष्ठा याद करते हैं। भीष्म कहा तो भीष्म प्रतिज्ञा याद आती है। उसका लम्बा-चौड़ा चरित्र याद नहीं आता। इसलिए मानव-जीवन का उद्देश्य गुणविकास ही है।

—विनोबा

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई काला, ताजगंज, आगरा-१

वार्षिक मूल्य ६० न० पै० इस अंक का ३० न० पै०